वार्षिक रु. ८० मूल्य रु. १०

विवेक ज्योति

वर्ष ५३
अंक ५
मई
२०१५

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१५

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५३
अंक ५

वार्षिक ८०/– **एक प्रति १०/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ३७०/–

आजीवन (२० वर्षों के लिए) – रु. १,४००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएं

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक १३०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द की यह मूर्ति रामकृष्ण मठ, नागपुर के विवेकानन्द विद्यार्थी भवन की है । विद्यार्थी भवन की स्थापना १९३२ में दो विद्यार्थियों के प्रवेश द्वारा हुई थी । आज यह भवन एक बहुमंजिली इमारत के रूप में विद्यमान है, जिसमें ५० अल्पसुविधा-प्राप्त विद्यार्थियों के रहने एवं भोजनादि की व्यवस्था है । इस छात्रावास में स्नातक एवं उच्च-स्नातक की शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों को स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों पर आधारित शिक्षा भी प्रदान की जाती है । रामकृष्ण मठ, नागपुर की स्थापना स्वामी शिवानन्द महाराज की प्रेरणा से १९२८ ई. को हुई थी। यह मठ रामकृष्ण संघ का एक मुख्य प्रकाशन-केन्द्र है, जहाँ से हिन्दी एवं मराठी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं ।

(आवरण-पृष्ठ सज्जा : स्वामी अनुग्रहानन्द, रायपुर)

मई माह के जयन्ती और त्योहार

०१ रामकृष्ण मिशन संस्थापना दिवस
०२ नारद जयन्ती
०४ भगवान बुद्ध जयन्ती
१० देवी अहिल्याबाई होलकर जयन्ती
२१ महाराणा प्रताप जयन्ती

लेखकों से निवेदन

सम्माननीय लेखको ! गौरवमयी भारतीय संस्कृति के संरक्षण और मानवता के सर्वांगीण विकास में राष्ट्र के सुचिन्तकों, मनीषियों और सुलेखकों का सदा अवर्णनीय योगदान रहा है । विश्वबन्धुत्व की संस्कृति की द्योतक भारतीय सभ्यता ऋषि-मुनियों के जीवन और लेखकों की महान लेखनी से संजीवित रही है । आपसे नम्र निवेदन है कि 'विवेक ज्योति' में अपने अमूल्य लेखों को भेजकर मानव-समाज को सर्वप्रकार से समुन्नत बनाने में सहयोग करें । विवेक ज्योति हेतु रचना भेजते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें –

१. धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव के नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है । **२.** रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिकतम चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर स्पष्ट सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुयी हो। आप अपनी रचना ई-मेल – vivekjyotirkmraipur@gmail.com से भी भेज सकते हैं । **३.** लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें । **४.** आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें **५.** पत्रिका हेतु कवितायें छोटी, सारगर्भित और भावपूर्ण लिखें । **६.** 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा । **७.** 'विवेक-ज्योति' में मौलिक और अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिये अनुवाद न भेजें । यदि कोई विशिष्ट रचना इसके पहले किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हो, तो उसका उल्लेख अवश्य करें ।

सम्पादक महोदय से मुझे भी कुछ कहना है

श्रीरामकृष्णदेव ने मेरी मनोकामना पूर्ण की

परम आदरणीय सम्पादक महोदय, सादर प्रणाम ।

सर्वप्रथम नववर्ष की हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें । मैं पिछले कई वर्षों से 'विवेक-ज्योति' की पाठिका हूँ । इस पत्रिका को बार-बार पढ़ती हूँ और हर बार नए भाव मिलते हैं । फिर कुछ समय पूर्व यह इच्छा मन में जागी कि जहाँ पर युगावतार श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा ने लीला की है, उन स्थानों का दर्शन करूँ ।

जब मिशन की पुस्तकें पढ़ती हूँ, तो मन में भावचित्र तो बनते थे, लेकिन दूर होने के कारण मैं सोच नहीं सकती थी कि उन सभी स्थानों का अपने जीवन काल में दर्शन कर पाऊँगी । 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के पिछले दो अंकों ने मेरी यह हार्दिक इच्छा पूर्ण कर दी । मैंने चित्रों से ही उस धरा को देखा और भाव विभोर हुई । आपके माध्यम से माँ ने मेरी मनोकामना पूर्ण की । इन चित्रों को मैं अलग फाइल में लगा कर अपने परिचितों, मित्रों एवं रिश्तेदारों को दिखा कर इन स्थानों के दर्शन करवाऊँगी । श्रीगुरुदेव श्रीरामकृष्ण देव जी ने मेरी मनोकामना आपके माध्यम से पूरी की। साधुवाद, शुभकामनाओं सहित,

भवदीया, **सुमन शर्मा शेखर, कांगड़ा (हि.प्र.)**

सबको कुछ तो सार्थक करना होगा

मान्य सम्पादक जी, सादर नमन,

आप महाभाग द्वारा अभिनव रूप से सुसंपादित 'विवेक-ज्योति' का जनवरी २०१५ का अंक पढ़कर आत्मसंतोष मिला । साज-सज्जा और प्रेरक सामग्री की दृष्टि से यह अंक अतीव सुन्दर और श्रेष्ठ बन पाया है। मुझे पत्र का संपादकीय ''स्वामी विवेकानन्दजी के स्वप्नों को युवक साकार करें'' अतीव उद्‌बोधक और जीवन में उतारने वाला लगा । महान योगी अरविंद और एक आदर्श युवक के पत्र का उद्धरण (पृ.सं. ४ व ५) चिन्तनीय और अनुकरणीय है । आप श्री ने भी युवावर्ग को अपनी ऊर्जा को अपव्यय न करने का संकेत दिया है ।

आजादी के संघर्ष और भारत के सतोगुणी उत्थान के लिए युवाओं ने ही नानाविध योगदान दिया, कुछ सुविज्ञ पुरुषों, संतो-आचार्यों और राष्ट्र-निर्माताओं के संरक्षण में, निर्देशन में १२० वर्ष पूर्व और आजादी के बाद जो वातावरण था और बनाया गया, उसने ही युवा शक्ति को ऊर्ध्वमुखी और पतनोन्मुखी बनाया । संतो, साहित्यकारों, कवियों की विचारधारा के साथ-साथ चुनाव, मत-बहुमत, प्रान्तवाद, भाषावाद और दलगत राजनीति, पाश्चात्य संस्कृति के आचार-विचार ने युवा-शक्ति की समस्त सतोगुणी शक्ति को रजोगुणी और तमोगुणी बना दिया । उसकी मानसिक शक्ति को न सतोगुणी ज्ञान से जोड़ा और न शारीरिक शक्ति को माटी या श्रम या उत्पादन से जोड़ा । युवा शक्ति को आजादी के बाद जिस रूप में ऊर्ध्वमुखी बनाना चाहिए था, उस सत्प्रयास और प्रयत्नों का अभाव रहा और आज भी है। उसकी गुण ग्राहकता का मार्गान्तरीकरण कर दिया, जिसे आप अच्छी तरह संयमित भाषा और भावों में व्यक्त भी कर रहे हैं ।

यहाँ शब्द शक्ति, अक्षर और नाद-ब्रह्म के गुणों और तत्त्वों को भी समझना और समझाना होगा । वाकोपनिषद में वाक् तत्त्व पर गहन व्याख्या हुई है । कथनी और करनी की समरसता की बात कबीर ने भी कही थी । तुलसी ने तो 'दुखी प्रजा के राजा को नरक का अधिकारी और मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक, पाले पोसे सकल अंग, तुलसी सहित विवेक' की बात कही । आज जीवन विकृत करने की शिक्षा सिखाई जा रही है जीवन सुधारने की नहीं ।

युवा-शक्ति को सदाचरण की ओर प्रेरित करने हेतु प्रौढ़ों और अनुभवी वृद्धों को चाहे वे अध्यापक, आचार्य, लेखक, कवि और नेता ही क्यों न हो, सबको कुछ तो सार्थक करना होगा ।

पुन: सादर नमन आपके, आत्मीयजनों और सहसाथियों के श्री चरणों में साभार । विनयावनत, **दीनदयाल ओझा, जैसलमेर, राजस्थान**

पत्रिका काफी सस्ती और ज्ञानवर्धक है

आदरणीय सम्पादक जी,

'विवेक-ज्योति' मासिक पत्रिका, सादर नमस्कार ।

कुशलता के बाद समाचार यह है कि मैं आप के यहाँ से प्रकाशित 'विवेक-ज्योति' मासिक पत्रिका का कुछ वर्षों से ग्राहक हूँ । पत्रिका काफी अच्छी, सस्ती और ज्ञानवर्धक लेखों से ज्ञान प्रदान करने वाली है । जनवरी, २०१५ के अंक में सारगाछी की स्मृतियाँ, लेखक स्वामी सुहितानन्द जी का लेख जिसमें प्रेमेशानन्द जी कहते हैं, हम तो मरने के लिए बैठे हैं, किन्तु अभी भी निराश नहीं हुए हैं । अन्यत्र लिखा है कि सहन करो । तुम्हें कितने लोग कितनी प्रकार की बातें कहेंगे, किन्तु क्रोध नहीं करना । लेख पढ़ने में बहुत ही अच्छा लगा । धन्यवाद सहित, आपका, **डॉ. साई दास शर्मा, चम्बा (हि.प्र.)**

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द के भजन

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

रामकृष्ण गाओ

(भैरवी–दादरा)

रामकृष्ण गाओ भक्तों रामकृष्ण गाओ ।
रामकृष्ण गा-गाकर, प्रभु को लुभाओ ।।
रामकृष्ण नाम जपो, रामकृष्ण ध्याओ ।
रामकृष्ण जपत-जपत, आनन्दित हो जाओ ।।
रामकृष्ण नाम भजो, औरों को सुनाओ ।
रामकृष्ण भजत-भजत, परम धाम जाओ ।।
रामकृष्ण सुधा पिओ, विषय-विष भुलाओ ।
रामकृष्ण अमृत पी, परमानन्द पाओ ।।
रामकृष्ण आदि, मध्य, अन्त वहीं पाओ ।
रामकृष्ण परमब्रह्म, उन्हीं में मिल जाओ ।।

अब जयरामवाटी चलो मन

(विहाग-तीनताल)

अब जयरामवाटी चलो मन ।
शान्ति मिलेगी, भक्ति मिलेगी,
पाओगे माँ का प्रेमधन ।।
ब्रह्मस्वरूपिणी सारदा माई,
मुक्ति बाँटने यहाँ पर आई,
जीवों को ले अपनी गोद में,
छुड़ाती है जनम-मरन ।।
अब जयरामवाटी चलो ...।
निज सन्तान देख हरषाती,
उनके सब दुख-ताप नशाती,
आँचल में ले दुलार कहती -
आओ आओ मेरे बेटे - आओ आओ मेरे बेटे
आओ तुम हो मेरे स्वजन ।।
अब जयरामवाटी चलो ...।

पूरे विश्व में विवेकानन्द हैं

(ताल-कहरवा)

स्वदेश में विवेकानन्द हैं, विदेश में विवेकानन्द हैं,
देश-विदेश-महादेश, पूरे विश्व में विवेकानन्द हैं।।
(जहाँ जहाँ जाओगे, सब जगह विवेकानन्द हैं ।।)
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...
खोयी हुई भारत शक्ति को, किसने पुनः जगाया,
मानव की सेवा करने का, किसने मार्ग दिखाया,
एक स्वर में सब जन कहते, ये तो विवेकानन्द हैं।
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...
युवा-शक्ति के मन में किसने अद्भुत शक्ति जगाया,
देशभक्ति का जन-जन में, किसने पाठ पढ़ाया,
सभी लोग यही कहते हैं, ये तो विवेकानन्द हैं ।।
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...
मानव में मतभेद नहीं हो, किसने हमें बताया,
सेवा करो ईशभाव से, किसने हमें सिखाया,
सब जन कहते सुनो, सुनो, ये तो विवेकानन्द हैं।।
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...
भारत की संस्कृति पर किसने, करना गर्व सिखाया,
अमृतपुत्र हैं सभी यहाँ, सबमें दिव्यता जगाया,
एक ही नाम सभी उच्चारें, ये तो विवेकानन्द हैं ।।
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...
वेद-पुराण ऋषि पर किसने, गौरव करना बतलाया,
धर्म-पुण्यभूमि भारत की, महिमा हमें समझाया,
जन-जन का मन-पक्षी बोले, ये तो विवेकानन्द हैं ।।
स्वदेश में विवेकानन्द हैं...

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५३ मई २०१५ अंक ५

भगवान बुद्ध का धम्मपद

यस्य पारमपारं वा पारापारं न विद्यते ।
वीतदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणं ।।

जिसके लिए न यह पार है और न वह पार है, दोनों ही पार नहीं है, जो निर्भय तथा अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

ध्यायिनं विरजमासीनं कृतकृत्यं अनास्रवम् ।
उत्तमार्थनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।

जो ध्यान करने वाला है, जो रजोगुण रहित है, जो स्थिर आसन है, जिसका चित्त मल-रहित है, जिसने उत्तम अर्थ अर्थात् सत्य को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

यस्य कायेन वाचा मनसा नाऽस्ति दुष्कृतम् ।
संवृतः त्रिभिः स्थानैः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।

जिसके शरीर, मन और वाणी से अनिष्ट-कार्य नहीं होते, जो इन तीनों स्थानों पर संयत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

सर्वसंयोजनं छित्वा यो वै न परित्रस्यति ।
संगाऽतिगं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।

जो सारे बन्धनों को काटता है, जो भयभीत नहीं होता, जो विषय-संग से विरत और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

पुरखों की थाती

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते
मूढः पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिः ।।४४९।।

– प्राचीन होने से ही सभी काव्य अच्छे नहीं हो जाते हैं और नवीन होने से ही कोई काव्य त्रुटिहीन नहीं हो जाता। विवेकी लोग भलीभाँति परीक्षा करके दोनों में से किसी एक का सेवन करते हैं, जबकि मूढ़ लोग दूसरों की बुद्धि से परिचालित होते हैं।

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम् ।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम् ।।४५०

– जो विद्या पुस्तकों में ही आबद्ध रहती है और जो धन दूसरों के हाथों में गया हुआ है, आवश्यकता पड़ने पर न वह विद्या काम आती है और न वह धन काम आता है ।

पंचभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ।।४५१

– पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु – इन पाँच तत्त्वों के योग से बने हुए शरीर के तत्त्व जब एक दिन पुन: अपने-अपने तत्त्वों में जा मिलते हैं, तब भला इस बात के लिए शोक क्यों किया जाय?

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।।४५२।।

– जैसे स्वयं को अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही सभी जीवों को अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं। इसीलिए सज्जन लोग सभी जीवों को अपने ही समान मानकर उन पर दया करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के स्वप्नों को साकार करने में महामना मदन मोहन मालवीय जी का योगदान

सम्पादकीय

आज सम्पूर्ण विश्व स्वामी विवेकानन्द के महान जीवन से प्रेरित हो रहा है। उनके द्वारा प्रदत्त लोक-कल्याणकारी उपदेशों से विश्व के सारे देश अपने-अपने स्तर से राष्ट्रभक्ति और लोकसेवा की प्रेरणा प्राप्त कर जन-कल्याण में अपना जीवन समर्पित कर रहे हैं। स्वामीजी से प्रेरणा प्राप्त कर स्वामीजी के जीवन-काल १८९४ में ही सेवा-क्षेत्र में अपना अमिट योगदान करनेवाले मुजफ्फनगर, शुक्रताल के सन्त स्वामी कल्याणदेव जी महाराज थे, जिनसे विवेक ज्योति के पाठक परिचित हैं। स्वामीजी से सीधे सम्पर्क न होने पर भी उनकी योजनाओं के अनुसार भारत के विकास में योगदान करनेवाले एक दूसरे मनीषी थे, जिन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र सम्मानपूर्वक महामना पंडित मदनमोहन मालवीय से सम्बोधित करता है। वर्तमान सरकार ने इस वर्ष मालवीयजी को भारत रत्न से पुरस्कृत कर उस कर्मयोगी का, उस अनन्य निष्ठावान राष्ट्रभक्त का सम्मान किया है, यह श्लाघनीय है। इसके साथ वर्तमान पीढ़ी मालवीयजी के त्याग और संघर्षमय जीवन से परिचित होकर उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर भारत के विकास में अपना योगदान देकर भारत माता के ऋण से कुछ मुक्त होगी ऐसी पूर्ण आशा एवं विश्वास है।

मालवीय जी ने स्वामी विवेकानन्द जी के स्वप्नों के भारत के निर्माण में कैसे योगदान किया, यही प्रस्तुत लेख का विषय है। यह विषय बहुत महत्वपूर्ण और विस्तृत है, इस पर बहुत संक्षेप में प्रकाश डालूँगा, पाठक इससे अधिक अन्य पुस्तकों से विस्तृत रूप में पढ़ सकेंगे।

१९वीं सदी के महानायक और भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट प्रवक्ता स्वामी विवेकानन्द से किसी ने पूछा कि आप एक संन्यासी हैं, पूरा विश्व ही आपका है, फिर आप केवल भारत का उत्थान क्यों चाहते हैं? स्वामीजी ने बड़ी विनम्रता से उत्तर देते हुए कहा – बन्धु, सारा जगत मेरा है। मैं भी सम्पूर्ण विश्व से प्रेम करता हूँ, किन्तु मैं देख रहा हूँ पूरा विश्व ज्वालामुखी के शिखर पर खड़ा है। सारे विश्व को बचाने के लिए सबसे पहले भारत को बचाना आवश्यक है। इसलिए मैं भारत की बात करता हूँ।

भारत को बचाने के लिए सबसे पहले भारत की अमूल्य संस्कृति को बचाने की आवश्यकता है। शताब्दियों से भारतीय संस्कृति का ह्रास और जनमानस को उसे यथार्थ रूप से अवगत नहीं कराने तथा उस महान संस्कृति के जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में आचरण नहीं करने से भारतवासी अपने आत्मविश्वास और गौरव को विस्मृत कर गए हैं। यदि भारत को पुन: जाग्रत करना है, यदि भारतवासियों में पुन: संजीवनी शक्ति का संचार करना है, तो उन्हें उनकी सभ्यता की, उनकी संस्कृति की महिमा को ज्ञात कराना अनिवार्य है। उन्हें यह बताना है कि भारतीय संस्कृति महान त्याग-तपोमय ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न ऋषियों की संस्कृति है, वीरों की संस्कृति है, समर्पित निष्ठावान सेवकों की संस्कृति है, सर्वसम्पन्न समृद्ध नागरिकों की संस्कृति है, अपने तुच्छ स्वार्थ छोड़कर परोपकारार्थ स्वजीवन को उत्सर्ग करने की संस्कृति है, राष्ट्रहित में सदा तत्पर और संघर्ष करते हुए अपने जीवन को राष्ट्र की बलिवेदी पर अपना शीश चढ़ा देने की संस्कृति है, प्राणीमात्र के कल्याण के लिए अपने सुख-सुविधाओं को न्योछावर करने की संस्कृति है, राजद्रोहियों, राष्ट्रद्रोहियों, षड्यन्त्रकारियों और मानव को संतप्त करनेवाले दानवों से संघर्षकर उन पर विजय प्राप्त कर मानवता के ध्वज को लहराने की संस्कृति है।

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि भारतवासियों के मन में उनके शाश्वत धर्म को पुन: स्थापित करना है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि धर्म माने संस्कार। उन्हें वह शिक्षा और संस्कार देना है, जिससे वे लोग स्वावलम्बी और आत्मविश्वासी बन सकें तथा गौरवमयी संस्कृति से गौरवशाली बोध कर सकें।

अपने भारत परिव्रजन-काल में स्वामीजी भारत की दशा को देखकर बहुत दुखित हो जाते हैं। भारतवासियों की दुदर्शा उन्हें अतीव व्यथित कर देती है। इसलिये वे कन्याकुमारी की ऐतिहासिक शिला पर ध्यान करते हैं। अपनी ध्यानावस्था में वे भारत के गौरवशाली अतीत, और गौरवमय उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करते हैं। उसके बाद से वे भारत के नव-निर्माण में लग जाते हैं।

राष्ट्रभक्तों और समाजसेवकों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने स्वयं कहा है कि किसी भी कार्य को करने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है। प्रथम संवेदनानुभूति, द्वितीय कार्य-योजना और तृतीय योजना का संघर्षपूर्वक क्रियान्वयन।

स्वामीजी ने स्वयं देश का भ्रमण कर लोगों के दुखों का अनुभव किया। उन्होंने उनके दुखों को दूर करने के लिए योजना बनाई और उसके क्रियान्वयन हेतु अपने गुरु-भाइयों, शिष्यों और राजा-महाराजाओं को पत्र लिखे, रामकृष्ण मिशन की स्थापना की एवं स्वयं जीवनभर संघर्ष करते शिवभाव से जीवसेवा के महायज्ञ में अपने जीवन की आहुति दे दी।

स्वामीजी ने भारत की जनता के लिए सर्वप्रथम शिक्षा और स्वास्थ्य की प्राथमिकता पर ध्यान दिया। भारत के गौरवमयी सनातन संस्कृति, सुसंस्कार, सदाचार, महाबलशाली गौरवमय वीरों के ऐतिहसिक पृष्ठभूमि ऋषियों के नि:स्वार्थ त्याग-तपोमय जीवन को शिक्षा में महत्त्व दिया। उन्होंने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का आदर्श हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की इकाइयाँ तथा भावधारा से जुड़े अन्य लोग इसी आदर्श के अनुसार कार्य कर रहे हैं।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करें कि महामना मदनमोहन मालवीय जी स्वामीजी के आदर्श की कसौटी पर कितने खरे उतरते हैं और स्वामी विवेकानन्द जी के स्वप्नों के भारत के निर्माण में उनका क्या योगदान है।

महामना मदनमोहन मालवीय

मदन मोहन मालवीयजी का जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को प्रयाग में हुआ था। इनके सदाचारी पिताजी थे भागवत कथाकार पण्डित व्रजनाथ व्यास जी और माताजी थीं धर्मपरायणा गरीबों की सेविका श्रीमती मूना देवी। सात भाई-बहनों में ये पाँचवे पुत्र थे। ये निर्धन किन्तु निर्लोभी, सच्चरित्र परिवार से होने के कारण स्वयं चरित्रवान थे और गरीब छात्रों के कष्ट से दुखित रहते थे। मालवीयजी बड़ी कठिनाई से संघर्ष कर शिक्षा प्राप्त करते हैं और पत्रकार, वकील, राजनीति और धर्मक्षेत्र में अपनी विभिन्न प्रकार से सेवाएँ देते हैं।

विश्वविद्यालय का संकल्प

मालवीयजी का प्रारम्भिक जीवन बहुत ही विपन्नता में बीता। उनका विपन्न जीवन देश ही नहीं, पूरे विश्व हेतु वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि यहाँ लोगों में शिक्षा के प्रति चेतना जाग्रत नहीं है, जो कुछ लोग हैं, वे भी सत्शिक्षा से वंचित हैं और अँग्रेजों की सेवा में ही अपने को धन्य समझते हैं। अत: मैं भारतावासियों की नि:शुल्क शिक्षा की सुव्यवस्था करूँगा। उन्होंने सोचा कि जो दीनता हमारी शिक्षा में बाधक बनी, अब भारत के किसी बच्चे की शिक्षा में, उसके विकास में दीनता बाधक नहीं बनेगी। उनके मन में 'सबको शिक्षा सबकी शिक्षा' का संकल्प उदय होता है। उनके जीवन की बचपन से लेकर अन्त तक बड़ी ही संघर्षमय और मार्मिक गाथा है, जिसके कुछ दृष्टान्त देकर मैं पाठकों की जिज्ञासा को शान्त न कर और उद्वेलित करूँगा।

जीवन के कई स्तरों से गुजरते हुए भारत के दीन छात्रों की नि:शुल्क उच्च शिक्षा एवं शिक्षा क्षेत्र में अभिनव क्रान्ति हेतु मालवीयजी ने १९०४ में विश्वविद्यालय खोलने का निर्णय लिया। उनकी आकांक्षा थी कि काशी और प्रयाग के बीच गंगा-तट पर ऐसे आश्रम स्थापित किए जायँ, जहाँ देश के नवयुवक और युवतियाँ ज्ञानवर्धन के साथ चरित्र की भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में बड़ा कठिन संकल्प था यह। लेकिन कैसे यह सत्संकल्प शीघ्र ही पूर्ण हुआ, यह एकमात्र उनके सदाचारी, समर्पित, ईश्वराश्रित जीवन और सत्संकल्प के प्रति दृढ़ निश्चय और सत्संघर्ष का ही परिणाम है।

विश्वविद्यालय हेतु संघर्ष

मालवीय जी की योजना को सुनकर उनके मित्र सर सुन्दरलाल जी ने कहा कि तुम कोई छोटा-सा स्कूल खोल लो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। लेकिन विश्वविद्यालय का स्वप्न देखना छोड़ दो। मालवीय जी ने कहा कि आप विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति होंगे। सर सुन्दरलाल जी ने कहा कि यदि विश्वविद्यालय खुलेगा, तो मैं एक लाख रूपया दूँगा। ये सब बातें हुईं। कुछ मालवीय जी के मित्र जब उन्हें कहीं देखते या कहीं भेंट हो जाती, तो पूछते – का हो मदनमोहन, ताहरा विश्वविद्यालवा के का भइल? मालवीय जी बड़ी विनम्रता से आशावादी उत्तर देते।

मालवीय जी का विश्वविद्यालय अभियान राष्ट्रव्यापी हो गया और गरीब प्रजा से लेकर शिक्षित विद्वान तथा अनकों राजा-महाराजाओं ने इस महायज्ञ में अपनी आर्थिक आहुति प्रदान की। दरभंगा-नरेश श्री रामेश्वर सिंह, बीकानेर नरेश श्री गंगा सिंह बहादुर, काशी, कश्मीर, मैसूर, अलवर, जयपुर, इन्दौर, जोधपुर, ग्वालियर आदि के राजाओं, श्रीमती एनीबेसेन्ट, सर सुन्दरलाल, शिवप्रसाद गुप्त और बड़े-बड़े सेठ-साहुकारों ने इसमें योगदान किया। सबसे पहले उनके पिताजी श्रीव्रजनाथ व्यासजी ने ५१ रूपए प्रदान किए। **(क्रमशः)**

भगवान बुद्ध का विश्व को सन्देश

स्वामी विवेकानन्द

बुद्धदेव ने भारत के धर्म की स्थापना ईसा के जन्म से छह सौ वर्ष पूर्व आरम्भ की थी। उन्होंने देखा कि भारत का धर्म उस समय प्रधान रूप से मानवात्मा की प्रकृति के सम्बन्ध में अनन्त विवाद में फँसा हुआ है। उस समय पशुओं के बलिदान, बलिवेदियों और इसी प्रकार के कर्मकाण्डों के अतिरिक्त धार्मिक दोषों के निवारण का और कोई उपाय न था, ऐसे विचारों का प्रचार-प्रसार था।

इस परिस्थिति में उन संन्यासी का आविर्भाव हुआ, जो तत्कालीन एक महत्त्वपूर्ण परिवार के सदस्य थे और बौद्ध मत के प्रवर्तक बने। उनका यह कार्य, प्रारम्भ में एक नये धर्म का प्रवर्तन नहीं था, बल्कि एक सुधार-आन्दोलन था। वे सबके कल्याण में विश्वास करते थे। उनके कथनानुसार उनके धर्म ने तीन चीजों की खोज की – पहला 'संसार में दुख है।' दूसरा, 'इस दुख का कारण क्या है?' उन्होंने बताया कि यह मनुष्य की दूसरों से ऊँचे होने की इच्छा है। तीसरा, 'इस दुख का निवारण नि:स्वार्थ बनकर किया जा सकता है।' वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बल से इसका निवारण नहीं किया जा सकता, मल से मल को नहीं धोया जा सकता, घृणा से घृणा को नहीं मिटाया जा सकता।

यह उनके धर्म का आधार था। जब तक समाज मानव की स्वार्थपरता की चिकित्सा उन नियमों और संस्थाओं के द्वारा करना चाहता है, जिनका उद्देश्य लोगों से उनके पड़ोसियों के प्रति बलात् भलाई करवाना है, तब तक कुछ नहीं किया जा सकता। उपाय बल के विरूद्ध बल और चालाकी के विरूद्ध चालाकी रखना नहीं है। एकमात्र उपाय है, नि:स्वार्थ नर-नारियों का निर्माण करना। तुम वर्तमान समस्याओं को दूर करने के लिए कानून बना सकते हो, पर उनसे कोई लाभ न होगा।

बुद्धदेव ने पाया कि भारत में ईश्वर और उसके सारतत्त्व के विषय में बातें बहुत होती हैं और कार्य बहुत ही कम। वे सदा इस मौलिक सत्य पर बल देते थे कि हम शुद्ध और पवित्र बनें और हम दूसरों को पवित्र बनने में सहायता करें। उनका विश्वास था कि मनुष्य को कार्य और दूसरों की सहायता करनी चाहिए, अपनी आत्मा को दूसरों में अनुभव करना चाहिए, अपने जीवन को दूसरों में अनुभव करना चाहिए। उनका विश्वास था कि परोपकार करना ही अपना उपकार करने का एकमात्र उपाय है। वे मानते थे कि संसार में सदा ही आवश्यकता से अधिक सिद्धान्त और अत्यल्प व्यवहार रहा है। आजकल भारत में एक दर्जन बुद्ध होने से बहुत अच्छा होगा और इस देश (अमेरिका) में भी एक बुद्ध का आविर्भाव लाभदायक सिद्ध होगा।

जब आवश्यकता से अधिक सिद्धान्त, अपने पिता के धर्म में आवश्यकता से अधिक विश्वास, आवश्यकता से अधिक अन्धविश्वास हो जाता है, तो परिवर्तन आवश्यक होता है। ऐसा सिद्धान्त अशुभ को जन्म देता है और सुधार की आवश्यकता होती है।

ईसा से छह सौ वर्ष पहले, भारत के पुजारियों का प्रभाव वहाँ के लोगों के मन पर बुरी तरह छाया हुआ था और जनता बौद्धिकता तथा विद्वत्ता दोनों उपर और नीचे के पाटों के बीच में पिस रही थी। बौद्ध धर्म जो मानव-परिवार के दो-तिहाई से अधिक का धर्म है, एक पूर्णतया नवीन धर्म के रूप में प्रवर्तित नहीं किया गया, वरन् एक सुधार के रूप में आया, जिससे उस युग का भ्रष्टाचार दूर हो गया। बुद्ध ही कदाचित् ऐसे पैगम्बर थे, जिन्होंने दूसरों के लिये सब कुछ और अपने लिए बिल्कुल कुछ भी नहीं किया। उन्होंने अपने घर और संसार के सुखों का त्याग इसलिए किया कि वे अपने दिन मानव-दु:खरूपी भयानक व्याधि की औषधि खोजने में बिताएँ। एक ऐसे काल में जिसमें जनता और पुजारी ईश्वर के सारतत्त्व के सम्बन्ध में विवाद में लगे हुए थे, उन्होंने वह देखा, जो लोग नहीं देख सके थे कि संसार में दु:ख का अस्तित्व है।

दूसरों से आगे बढ़ने की हमारी इच्छा और हमारी स्वार्थपरता हमारे दुख का कारण है। जिस क्षण संसार नि:स्वार्थ हो जाएगा, सारा अशुभ तिरोहित हो जाएगा। जब तक समाज अशुभ का इलाज नियमों और संस्थाओं से करने का प्रयत्न करता है, अशुभ का निराकरण नहीं होगा। संसार ने हजार वर्षों तक इस उपाय का असफल प्रयोग किया है। बल के विरुद्ध बल लगाने से निराकरण नहीं होता, अशुभ का एकमात्र इलाज नि:स्वार्थता है। हमें नये नये नियम बनाने के स्थान पर लोगों को नियम का पालन

करना सिखाना चाहिए। बौद्ध धर्म संसार का सब से पहला प्रचारक धर्म है, किसी धर्म को विरोधी न बनाया जाए, बुद्ध की शिक्षाओं में से एक थी। धर्म एक दूसरे से युद्ध करके अपनी शक्ति क्षीण करते हैं।

बुद्धमत के प्रति हिन्दू का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। जिस प्रकार ईसा ने यहूदियों को अपना विरोधी बनाया था, उसी प्रकार बुद्ध ने तत्कालीन भारत में प्रचलित धर्म को अपना विरोधी बनाया; पर जहाँ पर ईसा को उनके देशवासियों ने अंगीकार नहीं किया, बुद्ध ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार किये गये। उन्होंने पुरोहितों की भर्त्सना उनके मन्दिरों के ठीक द्वार पर खड़े होकर की, फिर भी आज वे उनके द्वारा पूजे जाते हैं। ....

बुद्ध की प्रत्येक शिक्षा का आधार वेदान्त है। वे उन संन्यासियों में से थे, जो उन पुस्तकों और तपोवनों में छिपे सत्यों को प्रकट करना चाहते थे। मुझे विश्वास नहीं कि संसार उनके लिये आज भी तैयार है। उसे अब भी उन निम्न स्तर के धर्मों की आवश्यकता है, जो सगुण ईश्वर की शिक्षा देते हैं। इसीलिए असली बुद्धमत तब तक जन-मन को नहीं पकड़ सका, जब तक उसमें वे परिवर्तन सम्मिलित नहीं हो गए, जो तिब्बत और तातार से परावर्तित हुए थे। मौलिक बुद्धमत तनिक भी शून्यवादी नहीं था। वह केवल जाति-व्यवस्था और पुरोहितों को रोकने का एक प्रयत्न था, वह संसार में मूक पशुओं का सर्वप्रथम पक्षपाती था, वह उस जाति को तोड़ने वालों में सर्वप्रथम था, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती है।

आर्नल्ड के काव्य 'दि लाइट आफ एशिया' से तुमको यह तो ज्ञात ही होगा कि बुद्ध किस प्रकार जन्मना एक राजकुमार थे और जगत के दु:ख ने किस गहराई से उनको प्रभावित किया था; भोग-विलास के अंक में पालित पोषित होने और जीवनयापन करने पर भी, वे अपने व्यक्तिगत सुख और सुरक्षा से किस प्रकार परितुष्ट नहीं हो सके, किस प्रकार उन्होंने राजकुमारी और अपने नवजात पुत्र को छोड़कर संसार का परित्याग किया, कैसे वे सत्य की खोज में एक के बाद दूसरे गुरुओं के पास भटकते रहे और अन्तत: कैसे उन्होंने सम्बोधि प्राप्त की। तुम उनके सुदीर्घ धर्मप्रचार, उनके शिष्यों, उनके संगठनों से भी परिचित हो।

ईसा के जन्म से छह सौ वर्ष पूर्व, बुद्ध के जीवनकाल में, भारतवासियों को अद्भुत शिक्षा मिलती रही होगी। वे निश्चय ही अत्यन्त उदार विचारों के रहे होंगे। विशाल जनसमूह ने उनका अनुसरण किया। राजाओं ने अपने सिंहासन त्याग दिए, रानियों ने अपनी राजगद्दी त्याग दी। युगों से पुरोहितों द्वारा मिलती रही शिक्षा से भिन्न, बुद्ध की क्रान्तिकारी शिक्षा का लोग सम्मान कर सके और स्वीकार कर सके। लेकिन उनकी बुद्धि असाधारण रूप से मुक्त और विशाल रही है।

उनकी मृत्यु पर विचार करो। यदि वे जीवन में महान थे, तो मृत्यु में भी महान थे। उन्होंने तुम्हारे अमरीकी आदिवासियों से मिलती-जुलती जाति के एक व्यक्ति द्वारा भिक्षा में दिए खाद्य पदार्थ को खा लिया। इस जाति के लोक (भक्ष्य-अभक्ष्य) बिना कोई विचार किए सब कुछ खा लेते हैं, अत: उन्हें हिन्दू स्पर्श तक नहीं करते। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, "तुम इस खाने को न खाना, किन्तु इसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता। उस आदमी के पास जाओ और उससे कहो कि उसने मेरे जीवन की सबसे बड़ी सेवाओं में से एक यह सेवा की है, उसने मुझे मेरे शरीर से मुक्त कर दिया है।" एक बूढ़ा आदमी आया और उनके निकट बैठ गया। वह मीलों पैदल चलकर प्रभु के दर्शन करने आया था, बुद्ध ने उसे उपदेश दिया। जब उन्होंने एक शिष्य को रोते देखा, तो उन्होंने उसकी भर्त्सना यह कहकर की, "यह क्या है? क्या मेरी सारी शिक्षाओं का फल यही है? किसी मिथ्या बन्धन को मत रखो, न मुझ पर निर्भर रहो, न इस जाते हुए व्यक्तित्व के मिथ्या महिमा-मण्डन को। बुद्ध व्यक्ति नहीं है, वह एक अनुभूति है। अपनी मुक्ति स्वयं ही सम्पन्न करो।"

मृत्यु के समय भी उन्होंने अपने लिए किसी विशिष्टता का दावा नहीं किया। इसके लिए मैं उनकी पूजा करता हूँ। जिसे तुम बुद्धों या ईसाओं की संज्ञा देते हो, वे अनुभूति की कुछ स्तरों के केवल नाम हैं। संसार के सभी शिक्षकों में वे ही एक ऐसे शिक्षक हैं, जिन्होंने हमें स्वावलम्बी होने की सबसे अधिक शिक्षा दी है, जिन्होंने हमें केवल अपने मिथ्या बन्धनों से ही नहीं, बल्कि ईश्वर या देवता कही जाने वाली अदृश्य सत्ताओं की निर्भरता से भी मुक्त किया है। मुक्ति की उस भूमिका में, जिसे वे निर्वाण कहते थे, उसमें प्रवेश करने के लिये उन्होंने हर व्यक्ति को आमन्त्रित किया है। किसी दिन उसे सबको प्राप्त करना है और वह उपलब्धि ही मनुष्य की परम पूर्णता है। ○○○

धर्म-जीवन का रहस्य (६/४)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन 'विवेक-ज्योति' के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

महर्षि वशिष्ठ महान त्यागी और तपस्वी थे, लेकिन उनमें त्याग और तपस्या का सात्त्विक अभिमान था। उनका त्याग और उनकी तपस्या भले ही उच्च कोटि की रही हो, पर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्हें पुरोहित लोग अत्यन्त निकृष्ट दिखाई देते थे –

उपरोहित्य कर्म अति मंदा ।। ७/४७/६

यह समस्या केवल महर्षि वशिष्ठ की नहीं, हम सबकी है। नहाए हुए लोग बिना नहाए लोगों से कहते हैं – दूर रहो, हमें छूओ मत ! अरे यह कितना गन्दा व्यक्ति है, नहाया नहीं है ! जो पूजा करने वाले हैं, वे पूजा नहीं करने वाले से कहते हैं – अधम है, पूजा नहीं करता, दूर रहो, छूना मत !

एक बड़ी प्रसिद्ध गाथा है। एक बड़े भक्त थे। उन्होंने अपने पुत्र को सिखाया कि प्रातःकाल उठकर प्रार्थना करनी चाहिए। पुत्र मान गया। अगले दिन प्रातःकाल चार बजे जब वह प्रार्थना के लिए उठा, तो उसने पिता से पहली बात कही – ये लोग कितने पापी हैं, जो सो रहे हैं। पिता ने सिर पीट लिया। कहा – 'क्या तुम इसीलिए उठे हो? इससे तो अच्छा होता कि तुम सोए ही रहते। अरे, मैंने तुम्हें प्रार्थना करने के लिए उठाया था या दूसरों की निन्दा करने के लिए। प्रार्थना माने ईश्वर की प्रशंसा। उसे छोड़कर कहने लगे कि ये सो रहे हैं, ये पापी हैं, ये नहाये नहीं है, अशुद्ध हैं।'

इस तरह की वृत्ति किसमें नहीं है, कहाँ नहीं है? हम लोगों में थोड़ा-सा कुछ आता है, तो अपने आप में उसका सौ गुना अभिमान पाल लेते हैं और सामनेवाले में कितने बड़े दोष देखने लगते हैं। दम्भ की मैंने सूक्ष्म व्याख्या की, तो उसे पढ़कर आपकी दृष्टि पैनी हो जाती है और दूसरे दिन से आप प्रचारित कर सकते हैं कि समाज में कौन-कौन दम्भी है – यह दम्भी है, वह दम्भी है, केवल हम दम्भी नहीं है। यदि उसका ऐसा दुरुपयोग होने लगे, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य क्या होगा? यदि व्यक्ति यह देख सके कि दम्भ कहीं हममें तो नहीं है, तब तो आपकी यह सूक्ष्म दृष्टि कल्याणकारी है।

एक अन्य संस्मरण में भी वही पक्ष है। दिल्ली में रामकृष्ण मिशन में शनिवार को प्रवचन था। जिनके यहाँ मैं ठहरा हुआ था, वे दम्पति ही मुझे वहाँ ले गये थे। उस दिन व्याख्या की गई थी कि अहंकार ही कुम्भकर्ण है। कथा का उपयोग तत्काल शुरू हो गया। कथा के बाद मैं आया, गाड़ी में बैठ गया, पतिदेव भी आ गए, पत्नी नहीं आई थी, तो पतिदेव बोले – आपको थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, कुम्भकर्ण आ जाय, तब न चलूँ? और तब पत्नी भी आ गई, मुस्कराए – आ रही है, अब विलम्ब नहीं होगा। परन्तु वह विलक्षण दृश्य था, जब पत्नी ने आते ही उनसे कहा – आज की कथा तुमने ध्यान से सुनी या नहीं? आज तो पूरा तुम्हारा ही वर्णन था। पता चला कि पति को लगता था कि हमारी पत्नी अहंकारी है और पत्नी को लगता था कि हमारा पति अहंकारी है। दोनों को एक दूसरे में अहंकार दिखाई दे रहा था, अपने में किसी को अहंकार नहीं दिखाई दे रहा था। इस पर मैंने कहा – रामायण में तो राम-रावण-युद्ध का वर्णन है, परन्तु यहाँ तो कुम्भकर्ण का कुम्भकर्ण से युद्ध सामने दीख रहा है। समाज का यही सत्य है। यहाँ तो राम का कुम्भकर्ण से युद्ध नहीं होता, यहाँ तो कुम्भकर्ण और कुम्भकर्ण में ही युद्ध हो रहा है। सूत्र यही है कि हमारी टकराहट धर्म-अधर्म की नहीं है, पाप और पुण्य की नहीं है, हमारी सारी टकराहट 'मैं' की टकराहट है। यह 'मैं' की टकराहट सजग करने के लिए है। जब यह इतने बड़े-बड़े पात्रों के जीवन में भी प्रवेश पा सकता है, तो हमें अवश्य सजग हो जाना चाहिये। यही दर्शन है।

वशिष्ठ को लगा कि मैं पुरोहित को अपने से नीचा मानता था, अर्थात् मुझमें अपने त्याग-तपस्या का अभिमान था। यह तो ठीक है कि मैं त्याग और तपस्या में डूबा रहूँ, पर दान लेनेवाला तुच्छ है, ऐसी वृत्ति के साथ मैं भगवान को कैसे पा सकता था? जब वे स्वयं पुरोहित बन गये, तो आवश्यकता न होने पर भी उन्होंने दान लिया और बड़ा ही अद्भुत दान लिया। उन्होंने सोचा कि दान में द्रव्य तो बहुत से लोग लेते हैं, पर दान में जब भगवान ही मिल रहे हों, तो

ऐसे दान का लोभ कौन नहीं करेगा? और वे पुरोहित की वृत्ति को स्वीकार करके कितने निरभिमानी हो गये !

धर्म का पहला सूत्र, पहली कसौटी यह है कि धर्म हमारे जीवन में अभिमान की सृष्टि करता है, दूसरों में दोष-दर्शन को प्रवृत्त करता है या फिर धर्म हमें ऐसी प्रेरणा देता है कि अपने को भी देखें और अपनी कमियों को मिटाने की चेष्टा करें। गुरु वशिष्ठ ने जो वरदान माँगा, उसका भी तात्पर्य यही था कि उनके अन्त:करण में सचमुच ही उस दिव्य भक्ति-भावना का उदय हुआ। इसीलिए रामायण में गुरु वशिष्ठ के ही मुख से बड़ी अनोखी, बड़े महत्त्व की बात कहलवाई गई – वह धर्म और कर्म जला देने योग्य है जिसमें राम का प्रेम नहीं है –

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। २/२९०/१

क्या यह धर्म की निन्दा है? निन्दा नहीं, पर यदि किसी को जला देने की बात कही जाय, तो यह शब्द अच्छा है या बुरा? यदि मुर्दे के लिये कहा जाय कि इसे जला देना चाहिये, तो बिल्कुल ठीक है। परन्तु यदि किसी जीवित व्यक्ति के लिए कहा जाय, तो महा अनर्थ है। यहाँ मानो संकेत यह है कि राम-प्रेम मानो प्राण है और धर्म शरीर है। ऐसी स्थिति में जिस धर्म में प्रेम और भक्ति का अभाव है, जो केवल क्रियामूलक धर्म है, तो वह धर्म जला देने योग्य ही है। यही इसका सांकेतिक अर्थ है।

गुरु वशिष्ठ जैसे महापुरुष त्याग और तपस्या के अभिमान से मुक्त हो गये और क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेनेवाले विश्वामित्र उनके विरोधी थे। वहाँ पर भी वही टकराहट देखने को मिली। हर युग में ऐसी स्थितियाँ आती हैं। गुरु वशिष्ठ ने जब यह सोचकर राजा विश्वामित्र का स्वागत किया कि राजा समाज को संरक्षण देता है, मुनियों के साधन के लिए वातावरण बनाता है, तो उन्होंने उचित ही किया। पर राजा के मन में प्रश्न उठा कि कुटिया में रहनेवाले वशिष्ठ के पास इतना वैभव कहाँ से आ गया। वशिष्ठजी ने बता दिया कि यह तो कामधेनु की कन्या नन्दिनी गाय का वैभव है। राजा विश्वामित्र ने कहा – आपको ऐसी गाय की क्या जरूरत है? आपको कुटिया में रहना है, यज्ञ के लिए घी ही तो चाहिए, दूध ही तो चाहिए, मैं हजार गायें भेज देता हूँ, यह गाय आप मुझे ही दे दीजिए। दोनों के बीच टकराहट हुई, जिसमें विश्वामित्र की पराजय हुई। पराजय होने पर उन्होंने एक निष्कर्ष निकाला कि कौन-सा वर्ण श्रेष्ठ है और कौन-सा निकृष्ट। उनको लगा कि क्षत्रिय बल से मैं एक ब्राह्मण को परास्त नहीं कर सका, तो स्वयं ब्राह्मण बनकर दिखाऊँगा। उन्होंने इतनी तपस्या की कि संसार ने उन्हें ब्रह्मर्षि के रूप में स्वीकार कर लिया।

परन्तु इन दोनों गुरुओं को एक ऐसा शिष्य मिला, जो हमेशा उनके चरण ही दबाता रहता था और वे अपने इस शिष्य से जितना सीख सके, सीखते रहे। वाणी द्वारा उपदेश देने पर कुछ-न-कुछ अभिमान तो होगा ही, परन्तु इन्होंने कभी विनम्रता को छोड़कर एक शब्द भी नहीं कहा और दोनों गुरुओं की इतनी सेवा की कि दोनों – विश्वामित्र और वशिष्ठ जब उन्हें देखते हैं, तो अनुराग में निमग्न हो जाते हैं –

निरखि रामु दोउ गुर अनुरागे। १/३५८/४

परन्तु इतिहास बताता है कि पहले इन दोनों गुरुओं में कितनी टकराहट थी, कितना विरोध था ! भगवान राम ने ही अपने अवतरण के द्वारा एक ऐसा सूत्र दिया, जिससे विश्वामित्र जैसे व्यक्ति की भ्रान्ति मिट गई। उनकी वह भ्रान्ति तब मिटी, जब उन्हें लगा कि मैं चाहे जितना भी तपस्वी या पुरुषार्थी होऊँ, पर सुबाहु, मारीच और ताड़का पर विजय पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। तब उन महान ऋषि के मन में आया कि ये पापी राक्षस बिना भगवान के नहीं मरेंगे –

गाधितनय मन चिन्ता ब्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।। १/२०५/५

कोई व्यक्ति कितना भी पुरुषार्थी क्यों न हो, परन्तु बिना भगवान के जीवन में यज्ञ की पूर्णता नहीं होती है। यह ताड़का – जीवन की दुराशा है, मारीच – जीवन के दोष हैं और सुबाहु – जीवन के दु:ख हैं। बिना ईश्वर की कृपा के, किसी महान व्यक्ति के लिये भी इनका पूर्ण विनाश करना, इन्हें मिटाना सम्भव नहीं है। उन्होंने निर्णय किया कि ईश्वर के बिना इस समस्या का समाधान नहीं होगा।

परन्तु उन्हें आनन्द तो तब आया, जब उन्होंने सोचा कि ईश्वर कहाँ मिलेगा। ध्यान में उन्हें ज्योंही यह पता चला कि भगवान का अवतार तो अयोध्या में, महाराज दशरथ के पुत्र के रूप में हुआ है, त्योंही क्षण भर में ही उनका सारा भ्रम दूर हो गया। – अरे, यदि मैं जानता कि भगवान क्षत्रिय कुल में जन्म लेनेवाले हैं, तो हजारों वर्ष इस तपस्या में क्यों गँवाता? इससे मुझे क्या मिला? लोगों ने ब्रह्मर्षि कह दिया, तो क्या हो गया? एक शब्द ही तो जुड़ गया !

मानो सूत्र को समझ गए कि श्रेष्ठता किसी वर्ण-विशेष में नहीं है, एक वर्णवाला दूसरे वर्ण का हो जाय, तो श्रेष्ठ हो जाएगा, ऐसा नहीं है। अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक वर्ण

का कर्म श्रेष्ठ है। यह बात भगवान कृष्ण गीता के उपदेशों के सन्दर्भ में भी कहते हैं और श्रीराम अंगद के सन्दर्भ में भी। अंगद ने भगवान से कहा – मैं अयोध्या से किष्किन्धा नहीं लौटूँगा। इसके साथ ही एक अन्य वाक्य उनके मुँह से निकल गया – मैं आपकी सेवा करूँगा। उस वाक्य में एक शब्द ऐसा निकल गया, जो उनकी कमी को प्रकट करता है और उन्हें प्रभु के इतने निकट रहने से वंचित कर देता है। बोले – महाराज, मैं आपकी नीच-से-नीच सेवा करूँगा –

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ ।। ७/१८/७

अब सेवा में भी कोई ऊँची और नीची सेवा होती है क्या? परन्तु हमलोग तो इसी के अभ्यस्त हैं। कथावाचन उच्च कोटि का कार्य हो गया और जूता उठाना नीची कोटि का। समाज में तो यह मान्यता है ही, परन्तु अंगद को ईश्वर के सन्दर्भ में भी यह भ्रान्ति हो गयी कि उनकी कौन-सी सेवा ऊँची है और कौन-सी नीची! भगवान समझ गए, सोचा – यहाँ रहकर नीची सेवा क्यों करेंगे, वहाँ जाकर ऊँचा कार्य करना ही अच्छा रहेगा। उसके बाद अंगद को सचमुच ही अपनी कमी का भान हुआ।

प्रभु इसी बात का संकेत देना चाहते थे कि न कोई वर्ण ऊँचा है, न कोई वर्ण नीचा। इसीलिये वे स्वयं क्षत्रिय के रूप में आए। विश्वामित्र तो चकित हो गए। उन्हें लगा कि ईश्वर ने भी मेरे ऊपर कितना बड़ा व्यंग्य कर दिया है। उन्होंने जन्म तो क्षत्रिय कुल में लिया और ऐसा क्षत्रिय कुल चुना, जिसके कुलगुरु वे ही वशिष्ठ हैं, जिनसे मेरा जीवन भर झगड़ा रहा। ईश्वर कहते हैं कि यदि मुझे पाना है, तो ब्रह्मर्षि का अभिमान भी छोड़िए और वशिष्ठ के प्रति विरोध की वृत्ति भी छोड़िए। यह कितना अनोखा उपदेश था! प्रभु मानो सहज रूप से सांकेतिक भाषा में अपनी बात कहते हैं। पहले तो विश्वामित्र को यदि कोई ब्रह्मर्षि नहीं कहता, तो चोट लग जाती थी। गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर लिखा है, जब भगवान राम का विवाह हुआ, तो विश्वामित्रजी महल में भी ठहरे। बहुत दिनों बाद जब चले, तो किसी ने पूछा – कौन जा रहे हैं? तो कहा – गाधिकुल के चन्द्रमा विश्वामित्रजी जा रहे हैं –

राम रूपु भूपति भगति ब्याहु उछाहु अनंदु ।
जात सराहत मनहिं मन मुदित गाधिकुलचंदु ।। १/३६०

उन्होंने बीस-पच्चीस हजार वर्ष तपस्या करके तो गाधिकुल से छुट्टी पायी थी। अरे, लिखना था कि ब्रह्मर्षि लौट रहे हैं। गोस्वामीजी बोले – वे ब्रह्मर्षि कहलाना ही नहीं चाहते। उन्हें ऐसा लग रहा है कि राजा गाधि के पुत्र के रूप में उनकी भगवान से अधिक समीपता है।

इसका अर्थ है कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी यह अभिमान हो सकता है। वर्णाभिमान का यह सूत्र इन गुरुओं के अन्त:करण में भी विद्यमान था। भगवान श्रीराम अपनी विनम्रता के द्वारा, अपनी सेवा के द्वारा, अपनी भक्ति के द्वारा, अपने अवतार-कार्यों के द्वारा 'वर्ण' और 'धर्म' का एक अद्भुत रूप प्रस्तुत करते हैं।

एक सूत्र और है – ब्राह्मणों ने प्रतापभानु को श्राप देकर राक्षस बना दिया और विश्वामित्र जब भगवान राम को लेकर चले, तो सामने ताड़का आ गई। विश्वामित्र बोले – इस राक्षसी ने बहुत-से मुनियों को खाया है, इसका वध करो, इसे बाण से मारो। तो भगवान ने बाण चलाकर मार तो दिया, पर अगला कार्य जो उन्होंने किया, वह बड़ा चौकाने वाला था। क्या? – भगवान् ने उस ताड़का को अपना पद दे दिया, अपने आप में लीन कर लिया –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। १/२०८/६

वह राक्षसी इतने लोगों को खा गई थी। उसे तो मारने के बाद नरक में भेजना चाहिए था। भगवान से पूछा गया – यह आपने क्या किया? आपने उसे मार दिया, यह तो न्याय का कार्य हुआ, पर आपने उसे यह दण्ड दिया या पुरस्कार? न्याय का उद्देश्य भी तो पूर्ण होना चाहिए।

भगवान बोले – अगर यह राक्षसी नरक में जाएगी, तो फिर से जन्म लेगी और फिर न जाने कितनों को खाएगी। तो इससे छुटकारा पाने का सबसे बढ़िया उपाय यही है कि इसको अपने में मिला लो, तो न अलग रहेगी और न अनर्थ करेगी। भगवान कहते हैं कि जब तक सब राम नहीं हो जाएँगे, तब तक संसार की समस्या दूर नहीं होगी। अत: सबको अपने में लीन कर लेना होगा। जब वे ताड़का को भी लीन करने लगे, तो उसको धीरे से बोले – तुमको मेरे ऊपर बड़ा क्रोध था न! क्रोध तो पराये पर आता है। अरे, हम दोनों कोई अलग थोड़े ही हैं! तुम मेरे ऊपर कैसे क्रोध कर रही थी? भगवान ने यह जो सूत्र दिया कि यदि वह सबमें विद्यमान है, तो उसकी परिणति रामत्व में ही हो सकती है। भगवान राम विश्वामित्र की आज्ञा से ताड़का को दण्ड देते हुए भी दिखाई देते हैं, परन्तु उसे अपने ही स्वरूप में परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार भगवान राम ने धर्म का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, यदि उसे हम और समाज स्वीकार कर सकें, तो सच्चे रामराज्य की स्थापना हो सकती है। **(क्रमशः)**

सारगाछी की स्मृतियाँ (३१)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और स्वामी अनुग्रहानन्द ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१६-०७-१९६०

शाम को फुटबॉल-प्रतियोगिता है। सम्पूर्ण आश्रम में उत्तेजना है, धूम (excitement) मची हुई है। ब्रह्मचारी प्रधानाध्यापक को प्रेमेश महाराज कहने लगे, साधारण व्यक्ति उत्तेजना (excitement) छोड़ कर रह नहीं सकते हैं। उन्हें कुछ भी एक चाहिये। इसलिये कोई खेलता है। बहुत से लोग खेल देखने जाते हैं, स्वयं को भूल जाते हैं, खेलने के बीच में उत्तेजित होकर किसी दल के साथ स्वयं को एकाकार कर लेते हैं। कितने लोग धूप में घण्टों तक खेल देखने के लिये खड़े रहते हैं। हार जाने से रेडियो भी फोड़ देते हैं और शायद खून-खराबा तक हो जाता है। देखो, तुम तो एक स्कूल के प्रधानाध्यापक हो, तुम्हें कहता हूँ - जब भी कोई खेल होगा, तब तुम दोनों दलों को बुलाकर इस बात को समझा देना कि खेल केवल खेल ही है। Game is for game's sake खेल में तो हार-जीत होगी ही। किन्तु उससे हम लोग मूर्खतावश कोई झमेला पैदा न करें। इस भाव को सभी लोगों में प्रचार करने की आवश्यकता है। लड़के को बार-बार समझाते-समझाते शायद कार्य हो सकता है। हम लोगों का स्कूल आदर्श होगा, हम लोगों को देखकर दूसरे लोग सीखेंगे।

प्रश्न - भागवत में है कि लड़कियों और स्त्रियों, दोनों का संग त्याग करना होगा। अर्थात् गृहस्थ और भक्त सबका त्याग करना होगा?

महाराज - थोड़ा बहुत करना होगा। सम्पूर्ण त्याग नहीं होगा। किन्तु झुकाव त्याग की ओर ही होना चाहिए। पूजनीय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) के पास लड़कियाँ जाती थीं, जिससे सेवक लोग संकोच करते थे। महापुरुष महाराज ने कहा, "क्यों घर में माँ-बहन नहीं थीं?

प्रश्न - यदि माँ-बहन जैसे न लगें, तो?

महाराज - फिर मिलना-जुलना ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी जितना हो सके बचकर चलना होगा। पहले तो आजकल जैसे लड़कियाँ नहीं आती थीं। मेरे पास जो ब्रह्मचारिणियाँ आती हैं, वे एक विशेष भाव की हैं। पहले मैं महिलाओं को समीप नहीं आने देता था। वैसा ढाका में रहने तक था। बहरमपुर में धीरे-धीरे लड़कियाँ आने लगीं, किन्तु वे भावुक नहीं थीं, वे सब बहुत सुदृढ़-चरित्रवाली कुमारी, ब्रह्मचारिणी थीं।

देखो, कम-से-कम ४० वर्ष तक लड़कियों के संग से बहुत सावधान रहना पड़ता है। ४० वर्षों से प्रयास करते-करते मन की गति सामान्यत: ठीक हो जाती है। तब उतनी समस्या नहीं होती है। लड़कियाँ भी कहाँ जाएँगी? इसलिये वे भी वृद्ध साधुओं को ढूँढ़ती रहती हैं। इनमें से ही एक नया भाव प्रसारित होगा, इसीलिये इन लोगों के साथ मिल-जुलकर इतना अधिक श्रम करना पड़ा।

अच्छा साधु कहाँ से होगा? पहले सद्गृहस्थ हो। खाना-पहनना, मन की दरिद्रता मिटे, तब तो अच्छा साधु होगा। छोटा बच्चा देखेगा कि उसके माता-पिता सज्जन, चरित्रवान और तेजस्वी हैं। प्रतिदिन सुबह-शाम मन्दिर में बैठते हैं। तब तो लड़के नैतिक-चरित्रवान बनकर आएँगे। जिस घर में ईश्वर-चिन्तन होता है, उस घर के लड़कों में और ईश्वर-चिन्तनविहीन रुचिहीन घर के लड़कों के चाल-चलन, व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर है।

फणीबाबू बहरमपुर से आये हैं। वे ठाकुरजी के लिये जलेबी लाए हैं।

महाराज - फणी ने कहा कि ठाकुरजी जलेबी खाना पसन्द करते थे। अरे कामारपुकुर में केवल जलेबी ही अच्छी मिलती थी, इसलिए पसन्द करते थे। यदि संदेश और रसगुल्ला मिलता, तो क्या वे पसन्द नहीं करते? भगवान में तो कोई प्रिय-अप्रिय का भाव नहीं हैं। साधारण लोगों को समझाने के लिये कहना पड़ता है, ईश्वर यह खाते थे, यह करते थे। इस प्रकार संसार के साथ भगवान को संयुक्त कर देना है। उसके बाद लोग धीरे-धीरे भगवत्-रस का अनुभव कर सकते हैं।

श्रीचैतन्यदेव के देह-त्याग के रहस्य की चर्चा चल रही थी।

महाराज - वैष्णव लोगो में कोई-कोई महाप्रभु चैतन्यदेव के शरीर का मृत्यु-चिन्तन नहीं करना चाहते हैं। यह सब ढोंग है। ईश्वर ने मानव-शरीर धारण कर इतनी लीलाएँ की और थोड़ी सी मृत्यु-लीला करने से ही उनका ईश्वरत्व चला जाएगा। हम लोग तो ठाकुरजी के शरीर-त्याग में उनकी कृपा की बातें सोचकर भावुक हो जाते हैं।

१६-७-१९६०

प्रश्न - स्वामीजी ने संन्यासियों को समाज में क्यों रखा?

महाराज - देखा है न, प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक अनुसन्धान विभाग रहता है। वहाँ से नया-नया अन्वेषण होता है। इसके लिये उन लोगों को व्यय आदि के लिये छात्रवृत्ति दी जाती है। हम लोगों का संन्यास आश्रम भी ठीक एक अन्वेषण-केन्द्र है। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में नए-नए तत्त्वों का अनुसन्धान करेंगे। समाज उन लोगों का भरण-पोषण करता है। यह जो 'हरे कृष्ण' कहकर द्वार पर खड़े होने से लोग भिक्षा देते हैं, उसके पीछे यही रहस्य है। अभी समाज सुव्यवस्थित नहीं है। अब वैसे भिक्षा नहीं मिलती है। इसके अतिरिक्त हमलोगों में वैराग्य भी वैसा तीव्र नहीं है। किन्तु जिन लोगों को थोड़ा-थोड़ा वैराग्य हुआ है, उन लोगों के लिए स्वामीजी ने मार्ग बनाया है। वह मार्ग है - निष्काम कर्म। परोपकार करते-करते एक-दो जन्मों में ही उन लोगों में विवेक का उदय होगा और वे लोग मुक्त हो जाएँगे।

प्रश्न - क्या ब्रह्मज्ञान अचानक होता है या धीरे-धीरे होता है?

महाराज -आत्मज्ञान और देह-मन-बुद्धि की बातें बहुत से लोग सुनते हैं, किन्तु उनमें जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा माने यह देह-मन-बुद्धि क्या है? कैसे इससे बाहर निकल सकते हैं? उसके लिए हार्दिक व्याकुलता चाहिए। दिन भर सभी कार्य करना, किन्तु यदि सदा मन में इस चिन्तन की एक फल्गु-धारा प्रवाहित रख सको, तो धीरे-धीरे आगे बढ़ोगे। ब्रह्मज्ञान अचानक हो जाता है। देह-मन-बुद्धि का खेल देखने की अवस्था धीरे-धीरे होती है, क्योंकि यह बुद्धि की सीमा में है।

इसके अतिरिक्त यह सब जो देखते हो, कृष्ण-नाम से रोते हैं, कृष्ण-कथा से पागल हो जाते हैं, ये सभी शुभेच्छा मात्र है। विधवा, शायद कोई आश्रय नहीं है, इसलिये ईश्वर को लेकर रहती है। सभी पूर्णत: वैसे ही नहीं है। अवश्य ही हृदय में प्रेम रहता है। किन्तु इन लोगों की प्रगति होने में बहुत देर लगेगी, एक-दो जन्म के बाद हो सकता है।

प्रश्न - ब्रह्मज्ञान के साथ साकार उपासना का क्या सम्बन्ध है?

महाराज - क्या हमलोग भी आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान कुछ समझते थे? ठाकुरजी, श्रीमाँ, स्वामीजी, श्रीकृष्ण, चैतन्यदेव और ईसा मसीह आदि के जीवन को देखकर इस संसार के लोगों के जीवन में एक जिज्ञासा होती है तथा उन लोगों के प्रति अत्यन्त आकर्षण का बोध होता है। उस प्रकार जब मन उस जगत से निर्लिप्त हो जाता है, तब मन किसी एक विषय पर गभीर चिन्तन करते-करते स्वयं ही आगे बढ़ेगा।

सामान्य लोग नहीं समझते हैं कि वास्तविक रूप क्या है। सौन्दर्य को समझने के लिये सत्त्वगुण आवश्यक है। 'प्रकाश उपाजायते'। पुरुष को एक स्त्री और स्त्री को एक पुरुष मिलने से ही हो गया। इसलिये तो शास्त्रों में ईश्वर के रूपों का इतना वर्णन किया गया है, जिससे मनुष्य उनके असाधारण विलक्षण सौन्दर्यता का बिन्दु मात्र भी धारणा कर सके।

इस जगत की छ: वस्तुएँ दिनभर तुम्हें नचाना चाह रही हैं। यदि नहीं नाचते हो, तो बच जाओगे। यदि नाचते हो, तो पाँचों रूप-रसादि और यश-प्रतिष्ठा में डूब जाओगे। तीन चीजों से सावधान रहना – लिंग, जिह्वा और कान। कान प्रशंसा सुनता है। मैं गीता को धर्म की पुस्तक नहीं कहता हूँ। मैं कहता हूँ कि इस पुस्तक को सबको पढ़ना चाहिए। इसे सामान्य लोग पढ़कर लाभान्वित हो सकते हैं। उससे जन-साधारण का कल्याण होगा। **क्रमश:**

लड़का न होने पर लोग आँसुओं की धारा बहाते हैं, धन-सम्पत्ति नहीं मिली तो कितनी हाय-हाय करते हैं, किन्तु भगवान के दर्शन नहीं हुए ऐसा कहते हुए कितने जन व्याकुल होकर रोते हैं? जो सचमुच भगवान को चाहता है वह उन्हें अवश्य पाता है।...भगवान को पाने के लिए ऐसे व्याकुल होना चाहिए जैसे डूबता हुआ मनुष्य साँस लेने के लिए होता है।

– श्रीरामकृष्ण देव

साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद (५)

स्वामी आत्मानन्द

(स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। प्रस्तुत व्याख्यान स्वामीजी ने कोलकाता में दिया था, इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

केनोपनिषद - २

केनोपनिषद पर चर्चा प्रारम्भ करते हुए हमने उसकी पृष्ठभूमि पर विचार किया था। शिष्य एक प्रश्न लेकर गुरु के पास उपस्थित होता है। उसे ऐसा लगता है कि नेत्र, कान, मन ये सभी तो जड़ हैं, पर मन अपने विषयों की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने विषयों की ओर जाती हुई दिखाई देती हैं, तो किसकी इच्छा और किसकी प्रेरणा से यह सारा कार्य होता है? यह जिज्ञासा उसके मन में होती है। भारतीय जिज्ञासा की एक विशिष्टता है। विज्ञान में भी जिज्ञासा है, सत्य की खोज है और अध्यात्म भी सत्य की खोज करता है। किन्तु दोनों में एक मौलिक अन्तर है। वह अन्तर यह है कि विज्ञान बाहर से इस इन्द्रियग्राह्य जगत में सत्य की खोज करता है, जबकि अध्यात्म भीतर की ओर सत्य को खोजने के लिये जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि यहाँ भी मनीषियों ने सत्य को बाहर खोजने की चेष्टा की, पर वह मिला नहीं, इसीलिए वे भीतर की ओर गए। उन्होंने तत्त्व का विश्लेषण किया और यह जानने की चेष्टा की कि चैतन्य वस्तुतः क्या है? Consciousness की खोज आज विज्ञान भी कर रहा है। यह मनोविज्ञान के क्षेत्र में आता है। वैसे Biology – जीव विज्ञान के क्षेत्र में भी वैज्ञानिकों ने इस Consciousness के तत्त्व को जानने की चेष्टा की, किन्तु अभी तक पकड़ में नहीं आया। पियरे टेलार्ड डे सायडन चार्डिन (Pierre Teilhard de Chardin) ये बड़े वैज्ञानिक हो गये हैं । वे जीवाश्मविज्ञानी (Paleontologist), पादरी और दार्शनिक थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। इनकी एक पुस्तक बड़ी प्रसिद्ध हुई है – द फेनोमेना ऑफ मैन। वहाँ पर उन्होंने मनुष्य को समझने का प्रयास किया है कि मनुष्य क्या है? दो स्तरों पर वे यह प्रयास करते हैं। एक स्तर वह है जहाँ वे मनुष्य को पशु से पृथक करने की चेष्टा कर रहे हैं कि मनुष्य किन अर्थों में पशु से भिन्न है। एक दूसरा अर्थ यह है कि जहाँ वे जड़ और चेतन में भेद स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। यह चैतन्य पशु और मनुष्य दोनों में दिखाई देता है, जो किसी जड़ वस्तु में दिखाई नहीं देता। यह चैतन्य क्या है? उनका एक वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं – Consciousness can never be experienced in plural – चैतन्य का अनुभव बहुवचन में कभी नहीं होता। उसका अनुभव एकवचन में ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ भी चैतन्य का स्पन्दन दिखाई देता है, भले ही वह स्पन्दन असंख्य नाम रूपों के माध्यम से हो, नाम और रूप में असंख्यता हो सकती है, पर जिस चैतन्य के माध्यम से ये नाम और रूप चैतन्य मालूम पड़ते हैं, वह अन्तर्निहित चैतन्य केवल एक है। इस प्रकार उन्होंने Consciousness चैतन्य की जो धारणा हमारे समक्ष रखी, वह ठीक हमारी धारणा के साथ मेल खाती है।

यहाँ जो शिष्य प्रश्न पूछ रहा है, उसके पूछने का तरीका विलक्षण है। उसे ऐसा लगता है कि चैतन्य तत्त्व है। संसार तो दिखाई देता है, पर दिखाई देने वाला संसार जड़ है। मेरा शरीर आज चैतन्य दिखाई देता है, किन्तु जिस दिन मैं मृत्यु को प्राप्त होऊँगा, यह मुर्दा पड़ा रहेगा। इसका अर्थ है कि चैतन्य इसमें नहीं है। यह किसी अन्य शक्ति के कारण चैतन्य के समान दिखाई देता था। जब वह शक्ति इसमें नहीं रहती, तो यह मुर्दा बन जाता है। संसार में जितने भी रूप दिखाई देते हैं, वे सब इसी प्रकार के हैं। तो इस प्रकार यह शिष्य उस चैतन्य तत्त्व को जानना चाहता है। इसलिये वह प्रतीक्षा करता है और केनेषितं...आदि प्रश्न पूछ रहा है – किसकी इच्छा और प्रेरणा से मन विषयों की ओर जाता है? इस प्राण को किसने इस प्रकार से प्रेरित किया है कि वह प्राण चलता है? वाणी बोलती है, तो किसकी इच्छा से बोलती है। मानो प्रश्न के माध्यम से उसी चैतन्य को पकड़ने की इच्छा की गई है।

आप थोड़ा सा चिन्तन करेंगे, तो यहाँ एक विलक्षण साधना का सूत्र दिखाई देता है। साधक बस बैठा है, भले ही वह यहाँ पर गुरु से प्रश्न करता दिखाई देता है, परन्तु हम ऐसा भी मान सकते हैं कि वह अपने आप से ही प्रश्न

पूछ रहा है। अच्छा यह जो मन विषयों की ओर जाता है किसकी इच्छा से जाता है? जैसे मैं अपने मन में प्रश्न पूछ रहा हूँ, आँखें देखती हैं, तो किसकी इच्छा से देखती हैं? ऐसा विचार मैं करता हूँ और मैं गहराई में उतरकर अपने भीतर जाने की चेष्टा करता हूँ। भौतिक विज्ञान बाहर के संसार को देखता है और बाहर से सत्य को पाने की चेष्टा करता है, पर यह जो अध्यात्म का विज्ञान है, यहाँ तो मनुष्य को अपने भीतर जाना होता है। मन क्या है, इसको समझना पड़ता है। इस प्रक्रिया से मानो साधक भीतर के अन्त:करण के तत्त्व को जानना चाहता है।

लिंकन बार्नेट ने आइंस्टाइन पर एक बहुत सुन्दर और छोटी पुस्तिका लिखी हैं – The universe and Dr. Einstein. उसमें उन्होंने डॉ. आइंस्टाइन के समय तक जितने भी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान हुए, उनका उल्लेख किया है। उन समस्याओं का उल्लेख किया है, जो भौतिकी के क्षेत्र में विद्यमान हैं। वे कहते हैं कि इन समस्याओं का समाधान तब तक नहीं होगा, जब तक एक मौलिक समस्या का समाधान नहीं हो जाता है। लिंकन बार्नेट की दृष्टि में वह मौलिक समस्या क्या है? लिंकन बार्नेट एक वैज्ञानिक हैं। वे विज्ञान पर कॉलम लिखा करते हैं। वे कहते हैं कि मौलिक समस्या यह मनुष्य ही है – Man is his own greatest mystery . वे कहते हैं कि मनुष्य के साथ एक बहुत बड़ी विडम्बना है। वह विडम्बना क्या है? वह यह है कि मनुष्य जिस मन के सहारे संसार की सारी चीजों को जानने की इच्छा करता है, वह उस मन को कभी जानने की इच्छा नहीं करता कि मन क्या है? यही विडम्बना उसके साथ है। कितनी सटीक बात कह दी ! मैं अपने इस मन से दुनिया को जानने का प्रयास कर रहा हूँ। मन ही ज्ञान का प्रथम औजार है, पर कभी मैंने यह सोचने की चेष्टा नहीं की कि मन का स्वरूप क्या है? यह औजार जो काम करता है, वह कैसे करता है? लिंकन बार्नेट अपनी दृष्टि से बात रख रहे हैं और केनोपनिषद में अध्यात्म की दृष्टि से बात रखी गयी है। यहाँ पर शिष्य पूछता है कि आखिर वह तत्त्व क्या है, जिसकी इच्छा से और जिससे प्रेरित होकर मन अपने विषयों की ओर जाता है? उसका जो उत्तर दिया गया है, वह उत्तर भी वैसा ही अद्‌भुत है, जैसा कि प्रश्न है। जैसा शिष्य, उसी प्रकार के गुरु। उन्होंने उत्तर में कहा –

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वावाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

ऋषि ने उत्तर में क्या कहा? जो कान का भी कान है, मन का मन है, वाणी की भी वाणी है, प्राण का प्राण है, आँखों की आँख है, ऐसा जानकर धीर पुरुष इस लोक से विदा लेने के बाद अर्थात् मृत्यु के पश्चात् अमर हो जाते हैं। यह उत्तर है। अब प्रश्न और उत्तर में सम्बन्ध कहाँ पर है?

शिष्य ने पूछा था कि किसकी प्रेरणा और किसकी इच्छा से मन अपने विषयों की ओर जाता है, तो उत्तर दिया कि मन का एक मन है और उस मन की प्रेरणा और इच्छा से, यह मन अपने विषयों की ओर जाता है। एक कानों का कान है, उसकी इच्छा से ये कान अपने विषय की ओर जाते हैं। आँखों की भी एक आँख है, जो इन आँखों को देखने की प्रेरणा देती है, ऐसा यहाँ पर अर्थ ध्वनित होता है। अब इसको समझा कैसे जाय? आँखों की आँख है, तो वह आँख कहाँ है? आँख के भीतर ही होगी, यदि कोई कानों का कान है, तो कान कहाँ है? यह कान तो बाहर दिखाई देता है, यदि कान का एक और कान हो, इसका तात्पर्य है कि वह भीतर ही होगा, इसी प्रकार प्राणों का प्राण, वह प्राण भीतर ही होगा। हम इस ढंग से इसको समझ सकते हैं। जैसे हम कठोपनिषद में पढ़ते हैं। वहाँ पर एक साधक निश्चय कर रहा है। पहले तो दोष देता है स्वयम्भू को, जो स्वयम्भू अपने आप उत्पन्न हुआ है। स्वयम्भू का तात्पर्य ही यही है कि जिसको किसी ने नहीं बनाया, जो अपने आप पैदा हो गया। तो यह जो साधक है, स्वयम्भू को दोष दे रहा है – **पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन् ।। (क्रमशः)**

उपनिषद् शक्ति की विशाल खान है। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित, सशक्त और वीर्यसम्पन्न हो सकता है। समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दु:खी, पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता – दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।

– स्वामी विवेकानन्द
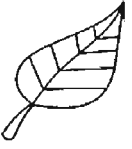
स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन विवेक-ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

५३. सारी शक्तियाँ मन में ही विद्यमान हैं

सारे युगों से संसार के सब लोगों का अलौकिक घटनाओं में विश्वास चला आ रहा है। हम सभी ने अनेक अद्भुत चमत्कारों के बारे में सुना है और हममें से कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का आरम्भ मैं स्वयं देखे हुए चमत्कारों को बताकर करूँगा। एक बार मैंने एक ऐसे व्यक्ति के बारे में सुना जो किसी के भी मन के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने के पहले ही बता देता था। मुझे यह भी बताया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताता है। मुझे उत्सुकता हुई और मैं अपने कुछ मित्रों के साथ उसके पास गया। हममें से प्रत्येक ने पूछने के लिये अपना प्रश्न सोच रखा था, ताकि कोई भूल न हो। हमने वे प्रश्न कागज के टुकड़ों पर लिखकर जेब में रख लिये थे। ज्योंही हममें से एक वहाँ पहुँचा, त्योंही उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर कहना शुरू कर दिया ! इसके बाद उस मनुष्य ने कागज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा, उसके पीछे मुझे हस्ताक्षर करने को कहा और बोला, "इसे पढ़ो मत और इसे तब तक जेब में रखे रहो, जब तक कि मैं इसे फिर न माँगूँ।"

इसके बाद उसने हम लोगों के भावी जीवन में होनेवाली कुछ घटनाएँ बतायीं। फिर वह बोला, "अब आप लोग अपनी-अपनी पसन्द की किसी भी भाषा का कोई भी शब्द या वाक्य सोच लें।"

मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य सोच लिया। वह व्यक्ति उस भाषा से पूर्णत: अपरिचित था। उसने कहा, "अब अपनी जेब में रखा हुआ कागज निकालो।" आश्चर्य ! उस कागज पर वही संस्कृत का वाक्य लिखा था ! और उसके नीचे उसने यह भी लिखा था, 'मैंने इस कागज पर जो वाक्य लिखा है, वही यह मनुष्य सोचेगा।' यह बात उसने एक घण्टा पहले ही लिख दी थी !

हममें से दूसरे को उसी तरह का एक दूसरा कागज दिया गया था, जिस पर हस्ताक्षर करके उसने उसे अपनी जेब में रख लिया था। उससे भी एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक वाक्य सोचा, जिसे जानना तो उस व्यक्ति के लिए और भी असम्भव था। वह 'कुरान शरीफ़' का कोई वाक्य था। परन्तु मेरे मित्र ने पाया कि वह भी पहले से ही उस कागज पर लिखा है !

हममें से तीसरा एक डॉक्टर था। उसने जर्मन भाषा की किसी चिकित्सकीय ग्रन्थ का एक वाक्य अपने मन में सोचा। वह भी उसके कागज पर लिखा हुआ मिला !

मैंने यह सोचकर कि पहले कहीं धोखा न खाया हो, कुछ दिनों बाद मैं अपने कुछ अन्य मित्रों के साथ दुबारा वहाँ गया। परन्तु इस बार भी उसे वैसी ही अद्‌भुत सफलता मिली।

एक अन्य समय जब मैं हैदराबाद नगर में था, तो मैंने एक ब्राह्मण के विषय में सुना। यह मनुष्य न जाने कहाँ से बहुत-सी चीजें पैदा कर देता था। वह उस नगर का एक व्यापारी तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति था। मैंने उससे अपने चमत्कार दिखलाने को कहा। परन्तु उस समय वह व्यक्ति बीमार था। भारत में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि यदि कोई साधु-सन्त किसी रोगी के सिर पर हाथ रख दे, तो वह नीरोग हो जाता है। वह ब्राह्मण मेरे पास आया और बोला, "महाराज, आप अपना हाथ मेरे सिर पर रख दें, ताकि मेरा बुखार उतर जाय।" मैंने कहा, "ठीक है, परन्तु तुम मुझे अपने चमत्कार दिखाओ।" उसने वचन दिया। मैंने उसकी इच्छानुसार उसके सिर पर अपना हाथ रखा और इसके बाद वह अपना वादा पूरा करने को अग्रसर हुआ।

हमने उसके सारे कपड़े उतरवा कर अपने पास रख लिये। केवल एक वस्त्र मात्र ही उसकी कमर से लिपटा रह गया। ठण्ड के दिन थे, अत: मैंने ओढ़ने के लिए उसे अपना कम्बल दे दिया और एक कोने में बैठा दिया। पच्चीस लोगों की आँखें उसकी ओर देख रही थीं। उसने कहा, "अब आप लोगों को जो कुछ भी चाहिए, उसे कागज पर लिख दीजिये।" हम सभी ने अंगूर के गुच्छे, सन्तरे आदि ऐसे फलों के नाम लिखे, जो उस अंचल में पैदा ही नहीं होते थे। हम लोगों ने कागज के वे पर्चे उसके हाथ में दे दिये। आश्चर्य ! उसके कम्बल के भीतर से ढेर-के-ढेर अंगूर और सन्तरे आदि निकलने लगे। उनकी मात्रा इतनी अधिक थी कि यदि उन सब फलों का वजन किया जाता, तो वे सब उस आदमी के वजन से दुगने होते ! उसने हम लोगों से उन फलों को खाने का अनुरोध किया। कुछ लोगों ने इसे सम्मोहन-विद्या समझकर

खाने से मना कर दिया। परन्तु जब वह व्यक्ति स्वयं खाने लगा, तो हम सबने भी खाये। फल अच्छे थे। अन्त में उसने गुलाब के ढेरों फूल निकाले। हर फूल पूरा खिला था और उसकी पंखुड़ियों पर ओस के कण थे। कोई भी फूल न तो टूटा था और न दबकर खराब हुआ था और वे ढेरों की संख्या में थे! मैंने जब इसकी व्याख्या करने को कहा, तो वह बोला, "यह केवल हाथ की सफाई मात्र है।"

उसने चाहे जैसे भी किया हो, परन्तु वह केवल 'हाथ की सफाई' होना असम्भव था। इतनी अधिक मात्रा में वे चीजें वह भला कहाँ से प्राप्त कर सकता था?

वैसे मैंने इसी तरह की बहुत-सी चीजें देखीं। भारत में भ्रमण करने पर विभिन्न स्थानों में ऐसी सैकड़ों चीजें देखने को मिलती हैं। ऐसी चीजें सभी स्थानों में हुआ करती हैं। यहाँ तक कि इस देश (अमेरिका) में तुम्हें कुछ ऐसी अद्भुत घटनाएँ देखने को मिलेंगी। हाँ, यह सच है कि इनमें अधिकांश धोखेबाजी होती है। वैसे यह बात भी सही है कि बहुत-से मामलों में धोखेबाजी होती है; परन्तु जहाँ कहीं तुम्हें धोखेबाजी दिखायी देती है, तो तुम्हें यह भी कहना पड़ता है कि यह किसी वास्तविक वस्तु की नकल है। कहीं-न-कहीं कुछ सत्य अवश्य होगा, जिसकी नकल की जा रही है। शून्य वस्तु की कोई नकल नहीं कर सकता। किसी वास्तविक रूप से विद्यमान वस्तु की ही नकल की जा सकती है।

प्राचीन काल में, हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में ऐसी बातें आज की अपेक्षा काफी अधिक परिमाण में हुआ करती थीं। मुझे लगता है कि जब किसी देश की आबादी खूब घनी होने लगती है, तो उसके मानसिक बल में कमी आने लगती है। जिन अंचलों की आबादी सघन नहीं है, वहाँ शायद मानसिक शक्ति का अधिक विकास होता है। हिन्दू लोग विश्लेषण-प्रिय होते हैं, अत: उन्होंने इन बातों को लेकर अन्वेषण किया, कुछ मौलिक निष्कर्ष निकाले और उनका ('राजयोग' नाम का) एक विज्ञान ही बना डाला। (४/१६७-१६९) ○○○

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द – ये दोनों जीवन ही भारत के अखण्ड सत्य हैं। इन दोनों महाजीवनों के अन्तर्गत ही समग्र भारत की एकता निहित है। भारतवर्ष इन दोनों महापुरुषों को हृदय में धारण करेगा – इसी की सबसे अधिक आवश्यकता है।

– भगिनी निवेदिता

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अनुवादक - स्वामी विदेहात्मानन्द

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्।।५५४।

अन्वय – जीवत् एव, ब्रह्मवित्तमः, सदा मुक्तः कृतार्थः, ब्रह्म एव सन् उपाधि-नाशात् निर्द्वयम् ब्रह्म अपि एति।

अर्थ – वे ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, जीवित रहते हुए भी सदैव मुक्त और कृतार्थ रहते हैं; और स्वरूपत: ब्रह्म होने के कारण (स्थूल-सूक्ष्म देहों के रूप में) उपाधियों का नाश होने पर अद्वय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः।।५५५।।

अन्वय – यथा शैलूषः वेष-सद्भाव-अभावयोः पुमान् च, तथा एव ब्रह्मवित्-श्रेष्ठः सदा ब्रह्म एव अपरः न।

अर्थ – जैसे नाटक में काम करनेवाला अभिनेता, अन्य वेश धारण किये हुए या सभी वेशों का त्याग करके भी, सर्वदा वही व्यक्ति रहता है, वैसे ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ पुरुष सभी अवस्थाओं में ब्रह्म ही रहते हैं, अन्य कुछ नहीं होते।

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुः पततात्।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव तच्चिदग्निना दग्धम्।।५५६।।

अन्वय – तरोः विशीर्णं सत् पर्णं यत्र क्व अपि पततात् इव ब्रह्मीभूतस्य यतेः वपुः। तत् चिदग्निना प्राक् एव दग्धम्।

अर्थ – वृक्ष के सूखे हुए पत्ते के समान ब्रह्मज्ञ महापुरुष का शरीर चाहे जहाँ ही पतित हो जाय। वह तो (मृत्यु के) पहले ही ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुका।

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः
पूर्णाऽद्वयानन्दमयात्मना सदा।
न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा
त्वङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय।।५५७।।

अन्वय – सदात्मनि ब्रह्मणि पूर्ण-अद्वय-आनन्दमय-आत्मना सदा तिष्ठतः मुनेः त्वङ्-मांस-विट्-पिण्ड-विसर्जनाय देश-कालादि-उचित-प्रतीक्षा न (अस्ति)।

अर्थ – सत्स्वरूप ब्रह्म में सर्वदा पूर्ण अद्वैत आनन्दमय आत्मा में स्थित रहनेवाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष को, त्वचा-मांस तथा विष्ठा के पिण्ड रूपी देह का त्याग करने के लिये उपयुक्त स्थान, समय आदि की अपेक्षा नहीं रहती।

साधक-जीवन कैसा हो? (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द,
सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

(ईश्वरप्राप्ति के लिये जिज्ञासु साधना में प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु प्राय: वे उन चीजों की उपेक्षा कर जाते हैं, जिन छोटी-छोटी चीजों से साधक-जीवन ईश्वर की ओर अग्रसर होता है। एक साधक का जीवन कैसा होना चाहिये और उसे अपने जीवन में किन-किन चीजों का ध्यान रखना चाहिये, इस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से इस व्याख्यान में चर्चा की गयी है। प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर द्वारा आयोजित आध्यात्मिक शिविर में मार्च, २०११ में दिया था। विवेक-ज्योति के पाठकों हेतु इसका टेप से अनुलिखन नागपुर की सुश्री चित्रा तायडे और कुमारी मिनल जोशी ने तथा सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

हमारे एक मित्र थे। अब नहीं रहे उनको बहुत अत्यधिक मधुमेह की बीमारी थी । जब स्पर्श और स्वाद ये दोनों का सुख मिल जाता है, तो वह व्यक्ति को तीव्र बन्धन में जकड़ देता है। मेरे उन मित्र को दोनों सुखों को उपलब्ध करने की विवशता थी। गर्मी के दिन हैं, तो आइस्क्रीम खिलाओ। बाबाजी लोगों को यह सुविधा है कि उनको कोई बिल नहीं पटाना पड़ता है। जहाँ मर्जी खाओ। बच्चों ने कहा कि सुना है यहाँ सीताफल का आईस्क्रीम बहुत अच्छा मिलता है। उतना संकेत काफी है, हाँ बहुत अच्छा मिलता है। अब मिलता है, तो मात्र सुनने और देखने से ही उसका सुख मिलेगा नहीं, केवल छूने से भी नहीं मिलेगा। कैसे मिलेगा? उसे खाने से मिलेगा। तो वे दोनों का सुख लेते रहे। शरीर के कुछ अंग डायबिटीज के कारण ऐसे हुए कि उन्हें काट देने पड़े। फिर भी उनका तर्क बहुत अच्छा था, जो मेरा भी है और आप लोगों का है कि नहीं, कह नहीं सकता। वे कहते, जो नहीं खाते हैं, वे नहीं मरते हैं क्या? बहुत अच्छा तर्क है और मन भी ऐसा चतुर है कि कहता है कि जिनको डायबिटीज है, जिन लोगों ने डॉक्टर के कहने से मीठा खाना छोड़ दिया, तो क्या वे नहीं मरते? इसलिये जब मरना ही है, तो खाकर ही मरो। कितना अच्छा तर्क है यह ! ऐसे ही स्पर्श-सुख का भी एक अनुभव होता है। रूप, रस, गन्ध आदि आप लोग हमेशा सुनते हैं। संसार का कोई भी सौन्दर्य अन्धे के लिए कुछ नहीं है। अन्धे व्यक्ति के लिये कुल्लु, मनाली, हिमालय आदि के सौन्दर्य का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिये उर्वशी, मेनका, शूर्पणखा और पूतना सब समान हैं। हैं कि नहीं? यह क्या सूचित करता है? यह सूचित करता है कि इन्द्रियाँ जब विषयों के सम्पर्क में आती हैं और स्वस्थ हैं, तभी उसकी अनुभूति होती है। हमारी पंचेन्द्रियाँ विभिन्न प्रकार के विषयों के सम्पर्क में आती हैं। उनके अलग-अलग विषय हैं। किन्तु एक विशेषता यह है कि नाक का काम कान नहीं कर सकता, कान का काम जिह्वा नहीं कर सकती है। इसलिये सबके अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र हैं। इन्द्रियाँ कुल ग्यारह हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवीं इन्द्रिय है मन ! मन भी इन्द्रियों के आधार से ही अनुभव करता है। मन कल्पना का आधार लेता है। मन कभी भी उस प्रकार की कल्पना नहीं कर सकता, जिसको किसी-न-किसी इन्द्रिय ने अनुभव न किया हो। यह गम्भीर विषय है, इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

मन को भी कल्पना के लिये एक आधार लगता है। जैसे किसी व्यक्ति ने हाथी नहीं देखा है। किन्तु उसने गेंडा देखा है। अगर वह सोचे कि जैसे एक बहुत बड़ा गेंडा है, लगभग वैसे ही हाथी भी होता है, किन्तु उसकी एक सूँड़ होती है। तो उसे गेंडा का एक आधार तो है। किन्तु जिसने केवल जीवन में चूहा ही देखा हो, वह किसी प्रकार से भी हाथी की कल्पना चूहा को लेकर नहीं कर सकता है। अधिक-से-अधिक कल्पना करे भी तो सूअर तक। लोक में कहते हैं कि चूहा को देखकर हाथी की कल्पना नहीं कर सकते। अभी आध्यात्मिक जीवन में हम सभी चूहे हैं।

श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग में अद्वैत तत्त्व की बातें हैं। उसे पढ़कर यह नहीं समझना चाहिये कि हम समझ रहे हैं। क्योंकि हमारी सीमित बुद्धि से उस असीम की कल्पना चूहे को देखकर हाथी की कल्पना करना जैसे होगा। मन जो एकादश इन्द्रिय है, उसे भी पंच-ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय लेकर उसके आधार पर कल्पना करनी पड़ती है । जो कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं, उनमें भी ज्ञानेन्द्रियाँ न हों, तो उनका अनुभव नहीं हो सकता।

हमें अपने व्यक्तित्व को समझना होगा। हमारी इन्द्रियाँ जो अनुभव करती हैं, वे कैसे करती हैं? आप थोड़ा विचार कर समझ सकते हैं। हम प्राय: ध्यान नहीं देते कि सामान्य अवस्था में अनुभव कैसे होते हैं ? असामान्य अवस्था की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। सामान्य अवस्था में कोई भी

अनुभव इन्द्रिय और उसके विषय वस्तु के संयोग से होता है। कैसे? जैसे यहाँ महाराष्ट्र में लोग मुझे भाकरी खिलाते हैं। यह मुझे बहुत प्रिय है, यहाँ के अधिकांश लोग जानते हैं। बंगाल में सपने में भी नहीं सोच सकते कि भाकरी क्या चीज है। वे पूछेंगे कि भाई यह किस जगह का नाम है? भाखरा नांगल जैसा कुछ है क्या? जब मैंने पहली बार भाकरी खाई, तो उसके साथ जो-जो चीजें मेरी बेटियाँ खिलाती हैं, वह सब मैंने खाया। पहली बार मुझे खाकर अनुभव हुआ। दूसरी बार यदि कोई मेरी बेटी या बहन बिना बताये मुझे भाकरी और चटनी खिलाये, तो मुझे पूछना नहीं पड़ेगा कि यह क्या है? है न, ऐसी बात ! उसकी आवृत्ति हुई। उस आवृत्ति से मैं जान गया कि यह भाकरी है। भाकरी खाकर बड़ा अच्छा लगा ! दूसरी बार अब ऐसी जगह जाना या रहना पड़ा, जहाँ साल भर भाकरी ही चटनी के साथ खाने को मिले, तो सारा स्वाद सामान्य हो जाएगा। खाना तो पड़ेगा, आवृत्ति तो होगी पर पहली बार भाकरी खाकर, जो स्वाद मिला था, बाद में नहीं मिलेगा। ये आवृत्तियाँ धीरे-धीरे यांत्रिक हो जाती हैं और उसके बाद नीरस हो जाती हैं। जो रस पहले मिलता था वह नहीं मिलता है।

अगर हम भगवान की भक्ति की, आध्यात्मिकता की आवृत्ति करने लगें, तो वह परम रस प्रदान कर सकती है, जो कभी नीरस नहीं होगा। आपको पहले निवेदन किया गया था कि विषयों के प्रति हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा, तभी साधक या साधिका का जीवन बन सकेगा। दृष्टिकोण विचारों से बदलता है और विचार अनुभव पर आधारित रहते हैं। बिना किसी अनुभव के शून्य में विचार नहीं किया जा सकता। जो शून्य में विचार करे, वही तो पागल है।

आइये, अब हम अपने जीवन में आवृत्तियों का अनुभव देखें। बहिर्मुखी इन्द्रियाँ हमको आवृत्ति में ले जाती हैं। इनमें से कौन-सी बहुत प्रबल हैं? सामान्य प्रबलता स्पर्श और जिह्वा की तो ठीक है। किन्तु हममें से प्रत्येक को यह ठीक करना पड़ेगा कि कौन-सी इन्द्रिय उसकी सबसे अधिक प्रबल है। उदाहरणार्थ बहुत बार नाम-यश की आकांक्षा हमारे बहुत से अनुभवगम्य इन्द्रियों को दबा देती है। व्यक्ति उसके अनुसार आचरण करता है। मान लीजिये, लोग कहने लगें कि आदमी शराब पीता है, इसलिये इसको हम नागपुर के इस पद का प्रधान नहीं बना सकते। तो पद की लालसा इतनी तीव्र होती है कि व्यक्ति शराब छोड़ देता है।

आप सभी बन्धु साधक हैं और मेरी बेटियाँ-बहनें साधिकाएँ हैं। हम यहाँ आये हैं, यही इसका प्रमाण है। प्रत्येक साधक और साधिका को स्वयं देखना पड़ेगा कि उसके जीवन में कौन-सी प्रबल इन्द्रिय उसे विवश करती है। प्रबलता का अर्थ है, मेरी इच्छा के विरुद्ध जो मुझसे काम कराती है। इन्द्रियाँ मेरी हैं, पर मुझे विवश करती हैं। कैसे विवश करती हैं?

मान लीजिये शाम को अपने भोजन कक्ष में हम गये। शाम को बहुत अच्छा जलपान मिला। वहाँ स्वादिष्ट बड़ा, बहुत अच्छा शिरा, बदाम-काजू का हलुवा, वह सब हमने पेटभर खा लिया। कोई कुछ और देने आया, तो हमने कहा कि नहीं भाई, बहुत खा लिया, अब नहीं खाऊँगा। वहाँ से निकले तो हमारे आश्रम में एक लोटिया प्रभु हैं। वे लोटिया प्रभु अभी सात दिन हमारी सेवा में रहते हैं। वे तरह-तरह की चीजें साधु निवास में खिलाते हैं। अपने कमरे में जाने के लिये मुझे उन के दरबार के सामने से जाना पड़ेगा। वे सब साधुओं को पानी-पुरी, भेल खिला रहे हैं। छोटे-छोटे शब्द हैं याद रखिए कि कैसे अनुभव-विस्मृति होती है। अभी तीन मिनट पहले भोजनालय से सुस्वादु पेटभर शिरा-उपमा सब खाकर आया, पर ज्योंही मैंने पानी-पुरी, भेल और चटनी आदि देखी, तो स्मृति चली गयी कि कितना खाया हूँ ! अरे लोटिया भाई हैं ! अरे स्वामीजी, आइए स्वागत है आपका ! इस उम्र में मैं अपने इन साधु भाईयों से बड़ा हूँ। उन सबने कहा, हाँ महाराज, आइए बैठिए। उन सबका सहयोग मिला। उसके बाद कैसे इन्द्रियाँ काम करती हैं, इसे देखिये। उन सबने कहा महाराज, थोड़ा चख के देख लीजिये बहुत स्वादिष्ट है। हमने थोड़ा चखा। जब चख लिया, तो किसी ने कहा चख लिए, तो खा भी लीजिये। हम लोग चखना और खाने में अन्तर नहीं करते हैं। हमने सब कुछ भूलकर बहुत सा खा लिया। अब उसने रात को पेट में मजा चखाया और हम रात में चिल्लाने लगे – बुलाओ डाक्टर को, प्राण निकल रहे हैं ! ब्रह्मस्थानन्द जी ने कहा, महाराज इतनी रात में डाक्टर कहाँ मिलेगा। थोड़ा-सा सह लीजिये। नहीं, नहीं, नहीं सह सकते, कुछ भी उपाय करो, नहीं तो हम को ही लेकर डॉक्टर के पास चलो। यह अनुभव मेरा है। मैं सोचता हूँ कि आप लोग भी मेरे अनुभव में सहभागी होंगे। आप स्मरण करके देखें। यह बहिर्मुखी इन्द्रियों का परिणाम है। **(क्रमशः)**

आधुनिक युग में रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य की प्रासंगिकता

महादेव प्रसाद आचार्य

संयुक्त संयोजक, रा.वि.भा.प्र.प. राजस्थान एवं सचिव श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर

भावधारा के आश्रम-संचालन समिति के पदाधिकारियों के लिए रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के पर्याप्त ज्ञान का महत्त्व

स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जयन्ती के अवसर पर रामकृष्ण–विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषदों के सदस्य-आश्रम प्रतिनिधियों का अधिवेशन रामकृष्ण मठ एवं मिशन मुख्यालय, बेलूड़ मठ में आयोजित किया जाना परम सौभाग्य की बात है। श्रीरामकृष्णदेव, श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द जी भगवद्त्रय का आविर्भाव, एक प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति का लोक कल्याण के लिये अवतरण इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। उनकी वाणी तथा सार्वलौकिक सन्देश को जन-जन तक पहुँचाना और अपना स्वयं का जीवन-गठन करना ही रामकृष्ण-विवेकानन्द भावान्दोलन है। जब हम इस भावान्दोलन को संगठनात्मक रूप में देखते हैं, तो एक ओर सर्वोच्च स्थान पर जहाँ सर्वत्यागी सेवाभावी संन्यासियों का संगठन रामकृष्ण मठ एवं मिशन, बेलूड़ मठ तथा उसके केन्द्र हैं, तो दूसरी ओर सबसे नीचे की कड़ी है भाव-प्रचार परिषदों के सदस्य-आश्रम, जिनका संचालन इस भावधारा से अनुप्राणित गृहस्थ भक्त अपने अन्य सांसारिक दायित्वों के साथ करते हैं। इन भक्तों में भाव का संचरण रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सन्त-महात्माओं के सान्निध्य तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के अध्ययन से हुआ है। साहित्य के सतत अध्ययन ने इन भक्तों को संस्थाएँ, आश्रम गठित कर अपना जीवन गठन करने तथा लोकहितकारी कार्य करने के लिए प्रेरित किया है।

स्वामीजी ने मठ और मिशन के सर्वत्यागी संन्यासियों के लिये जो ध्येय वाक्य, ''आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'' निर्धारित किया है, वही आदर्श भावप्रचार परिषद के सदस्य-आश्रमों के के लिये भी है। इस आदर्श वाक्य की अवधारणा को आत्मसात् करने का श्रेष्ठ और सरल माध्यम इस साहित्य का गहन अध्ययन एवं मनन है। हम आश्रम रूपी स्थूल शरीर में भाव रूपी चैतन्य का साक्षात्कार करने पर ही आदर्श के अनुसार आश्रम के कार्यों को करने में सक्षम हो सकते हैं। स्वामीजी के अनुसार कर्मरूपी क्रिया में प्रेम रूपी चिकनाई से ही वह आसान होता है, अन्यथा कर्कश घर्षण मात्र है। आश्रम कार्यों में वही भाव रूपी चिकनाई प्रत्येक कार्य को सुखद बनाती है। भावप्रचार परिषदों के सदस्य-आश्रमों की संचालन समिति के सदस्यों के लिये रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के पर्याप्त ज्ञान का महत्व दो रूपों में है। संचालन समिति के सदस्यों का आध्यात्मिक उत्थान हो, क्योंकि वे केवल संचालनकर्ता ही नहीं, अपितु साधक भी हैं और दूसरी बात है कि आश्रम की गतिविधियों एवं सेवाकार्यों को मुख्य भाव के अनुसार प्रभावी ढंग से सम्पादित करने में सक्षम बन सकें। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का पर्याप्त ज्ञान किस प्रकार इन दोनों पक्षों को परिपुष्ट करता है। प्रथम हम आध्यात्मिक पक्ष और फिर आश्रम संचालन पक्ष पर विचार करेंगे –

भावधारा के साहित्य से संचालन समिति के पदाधिकारियों के आध्यात्मिक पक्ष को परिपुष्ट करना

१. किसी भी भाव, विचार तथा तथ्य को आत्मसात् करने की एक सरल प्रक्रिया है और वह है जानना, मानना तथा अपनाना अर्थात् आचरण में लाना। भगवान श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश अर्थात् वाणी को जानने-मानने तथा अपनाने में सबसे अधिक सहायक है इस साहित्य का अध्ययन तथा चिन्तन-मनन। साहित्य के स्वाध्याय से ही साधक भगवद्त्रय के जीवन-वाणी से सीधा जुड़ता है। जब तक पठन-पाठन, चिन्तन-मनन किया जाता है, प्रारम्भ में तब तक तो हमें उनका सान्निध्य निश्चित रूप से प्राप्त होता है। यही जीवन गठन की प्रक्रिया है। जब यह प्रक्रिया असीम श्रद्धा, भक्ति तथा समर्पण में रूपान्तरित हो जाती है, तो वह आध्यात्मिक प्रगति में सहायक बन जाती है।

२. रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का अध्ययन अनजाने में हमारे जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करने लगता है। सामाजिक सम्बन्धों, दैनिक कार्य, व्यवहार तथा आपसी संवाद में इस भावान्दोलन के केन्द्रीय भाव तथा जीवन मूल्यों के प्रभाव से जीवन सरस और आनन्दमय बन जाता है। किया गया प्रत्येक कार्य साधना बन जाता है। श्रीठाकुर,

श्रीमाँ तथा स्वामीजी का साहित्य उनके मुख से नि:सृत उनकी ही वाणी है। यह साहित्य किसी कल्पना या वैचारिक सृजन का परिणाम नहीं है। अत: यह हमारे जीवन को अधिकाधिक प्रभावित करते हुए हमारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक है।

आश्रम संचालन में रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के ज्ञान का महत्व

१. आश्रम का गठन, संचालन, कार्य-विधि तथा गतिविधियों का सम्पादन इन सभी क्षेत्रों में साहित्य का पर्याप्त ज्ञान अपेक्षित है। जब तक संचालन समिति के पदाधिकारी तथा कार्यकर्ता भावधारा से पूरी तरह परिचित नहीं होंगे, तब तक सभी कार्य औपचारिक होंगें। इन सब में प्राण का संचार तभी आता है, जब सभी ठाकुर, माँ और स्वामीजी के जीवन तथा शिक्षाओं से अभिभूत होकर संगठन के प्रति आत्मिक भाव एवं निष्ठा को अनुभव करने लगें। यह कार्य साहित्य अध्ययन से ही सम्भव है।

२. इस भावधारा का वैचारिक दर्शन आश्रम-संचालन के समय सदा सम्मुख रहे, उसके लिये सभी पदाधिकरियों एवं कार्यकर्ताओं को इसे जानना आवश्यक है। साम्प्रदायिक सद्भाव अर्थात् सभी धर्मों का आदर, शिवज्ञान से जीव सेवा, मनुष्य जीवन का लक्ष्य ईश्वर-दर्शन, त्याग और वैराग्य का आदर्श, दु:खी–दरिद्र, पीड़ित, रोगी सभी की आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति पर बल, मनुष्य की दिव्यता में विश्वास, राष्ट्रीयता तथा सम्पूर्ण मानव कल्याण के बीच समन्वय, चरित्र-निर्माणकारी तथा मनुष्य-निर्माणकारी धर्म तथा शिक्षा की आवश्यकता, मातृशक्ति का उत्थान तथा आदरभाव आदि कुछ ऐसे जीवन आदर्श हैं, जिनका ज्ञान हमें सम्पूर्ण साहित्य अध्ययन से ही सम्भव है।

३. आश्रम, संस्था के प्रति जन सामान्य की रुचि जागृत करने के लिये रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रामाणिक जानकारी भी लोगों को उपलब्ध कराना महत्वपूर्ण कार्य है। आश्रम की सभी गतिविधियों का मूल आधार ठाकुर, माँ और स्वामीजी का जीवन चरित्र तथा दर्शन है। उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं रुचि जागृत करने और इस साहित्य से लोगों को परिचित कराने के लिये संचालन समिति के पदाधिकारी तथा कार्यकर्ता स्वयं पहले पर्याप्त अध्ययन करने पर ही इस कार्य को सम्पादित करने में सक्षम हो सकते हैं।

४. आश्रम की संचालन समिति में समय-समय पर प्रभार परिवर्तन होते रहते हैं। इससे आश्रम की गतिविधियों के संचालन में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। इस दृष्टि से सभी कार्यकर्ताओं के लिए रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता है। यह भाव ही सभी को एक सूत्र में बाँधकर कार्य के लिये सक्षम बनाता है। अत: साहित्य के स्वाध्याय को नित्य पूजा-अर्चना की तरह नियमित गतिविधियों का अंग बनाया जाना चाहिए।

५. रामकृष्ण–विवेकानन्द साहित्य के कुछ आधार ग्रन्थ हैं, जिनका स्वाध्याय, पठन-पाठन तथा चिन्तन-मनन आश्रम पदाधिकारियों और कार्यकर्ताओं में जीवनी शक्ति का संचार करते हैं। श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, श्रीरामकृष्णलीलामृत, श्रीरामकृष्ण वचनामृत, श्रीमाँ सारदादेवी (जीवनी), माँ की बातें, माँ की स्नेहछाया में, विवेकानन्द-चरित, युगनायक स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य दस खण्डों में, भारतीय व्याख्यान, स्वामी विवेकानन्द पत्रावली तथा श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका आदि ऐसे आधार ग्रन्थ हैं, जिनके निरन्तर पठन-पाठन, चिन्तन-मनन से आश्रम की गतिविधियों का संचालन कुशलता एवं सरसता के साथ किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य पुस्तकें, नवीन शोधग्रन्थ, पत्र तथा रामकृष्ण मठ एवं मिशन तथा शाखा केन्द्रों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ भी विभिन्न दृष्टिकोणों से इनकी व्याख्या हैं, जो भक्तों तथा कार्यकर्ताओं के मन में उठनेवाली अनेक जिज्ञासाओं का समाधान प्रदान करती है।

अत: मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि भगवदत्रय – श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द का बीजरूपी भाव जो हमने ग्रहण किया है, उसे रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के अध्ययन से पुष्पित-पल्लवित कर आश्रम के माध्यम से फलीभूत करें। धन्यवाद के साथ जय भगवान !❍

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के प्रति मैं कितना ऋणी हूँ – यह शब्दों में लिखकर भला मैं कैसे व्यक्त कर सकता हूँ? उन्हीं के पुण्य प्रभाव से मेरे जीवन में चेतना का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था। भगिनी निवेदिता के समान ही मेरा भी विश्वास है कि रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही अखण्ड व्यक्तित्व के दो रूप हैं। आज यदि स्वामीजी जीवित होते, तो निश्चय ही वे मेरे गुरु होते – अर्थात् मैंने अवश्य ही उनका गुरु के रूप में वरण कर लिया होता। अस्तु। कहना न होगा कि मैं जब तक जीवित रहूँगा, 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' का अनन्य अनुगत तथा अनुरागी बना रहूँगा।

– सुभाषचन्द्र बोस

मन को शान्त रखने के उपाय

स्वामी दिवाकरानन्द, रामकृष्ण मिशन, नरोत्तमनगर

इस संसार में मनुष्य शान्ति चाहता है। शान्त रहना मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु आजकल की जीवन शैली के कारण अशान्त हो गया है। जीवन में भाग-दौड़ मची है। मनुष्य आज शान्ति से रह नहीं पा रहा है। मन में अशान्ति है। मनुष्य शान्ति के लिये इधर-उधर भटक रहा है। वह शान्ति पाने के लिए कभी मन्दिर में, कभी किसी सत्संग में या किसी महापुरुष के पास जाता है, किन्तु शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति पाने के लिए बहुत तपस्या, यज्ञ आदि करने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम नीचे लिखे सूत्रों का व्यावहारिक जीवन में पालन करें, तो मन अवश्य ही शान्त होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

१. वर्तमान में जीना सीखें – भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में जीना सीखें। आने वाले समय के लिये वर्तमान को नष्ट न करें। जो है, उसी में सन्तोष करें। सन्तोष ही सबसे बड़ा धन है।

२. मन को खाली न रखें – मन को खाली न रहने दें, उसे काम में लगाकर रखें। खाली दिमाग शैतान का घर होता है। मन को किसी-न-किसी काम में लगाकर रखें। उसे किसी अच्छे विचार में लगाकर रखें।

३. ईर्ष्या की भावना से बचें और समदृष्टि रखें – किसी से ईर्ष्या न करें। किसी से बैर-भाव न रखें। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, उन्नति-अवनति आदि में सम रहें।

४. किसी की निन्दा-स्तुति न करें – परचर्चा या परनिन्दा में समय का नाश न करें और न ही किसी की प्रशंसा करें। अपने में मस्त रहें।

५. कभी भी काम को टालें नहीं – सभी कार्य समय पर करें। ऐसा कोई भी कार्य न करें, जिससे बाद में आपको पछताना पड़े।

६. किसी को तब तक परामर्श न दें, जब तक आप से पूछा न जाए – बहुत से लोग अनावश्यक दूसरों के काम में अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं, जिससे मन में अशान्ति आती है।

७. उतना ही कार्य हाथ में ले, जितना पूर्ण करने की आप में क्षमता हो – आप में जितनी कार्य-क्षमता है, उतना ही कार्य करें और आवश्यक कार्य ही करें।

८. प्रतिदिन ध्यान करें – ध्यान करने से एकाग्रता आती है। एकाग्रता से मन शान्त होता है। अतः समय निकाल कर प्रतिदिन घर में किसी एक स्थान पर सुखद आसन पर ध्यान का अभ्यास करें।

९. पुरानी बातों को भूलना और दूसरों को क्षमा करना सीखें - किसी से पुरानी कुछ गलतियाँ हो गई हों, तो उसे भूलकर आगे के बारे में सोचना चाहिए। यदि किसी से गलती हो जाए, तो उसे क्षमा कर दें।

१०. वातावरण के अनुसार ढलना सीखें – समय के साथ चलें। सुख-दुख, अनुकुल-प्रतिकूल आदि परिस्थितियों में सामंजस्य बनाकर चलें।

११. सत्य बोलें – मनुष्य को सदा सत्य बोलना चाहिए। झूठ बोलने से मन में अशान्ति आती है। सत्य में बहुत शक्ति होती है। सत्य की हमेशा जीत होती है।

१२. समाज या परिवार में अपनी पहचान पाने की लालसा न रखें – नाम-यश के चक्कर में, सम्मान पाने की लालच में मनुष्य अपने जीवन को, अपने मन को अशान्त कर लेता है। अतः इनसे दूर रहें।

१३. मान-अपमान में सम रहें – प्रशंसा सुनकर फूले नहीं और अपमान में क्रोधित न हों। दोनों में सम रहें।

१४. प्रतिदिन प्रातःकाल हाथ जोड़कर नीचे लिखे शान्ति मन्त्र का पाठ करें – ॐ ब्रह्म शान्तिः, ॐ विष्णु शान्तिः, ॐ रुद्र शान्तिः, ॐ जीवात्मा शान्तिः, ॐ परमात्मा शान्तिः, ॐ द्यौ शान्तिः ॐ पृथ्वी शान्तिः, ॐ आपः शान्तिः, ॐ अग्नि शान्तिः, ॐ वायुः शान्तिः, ॐ आकाश शान्तिः, ॐ औषधयः शान्तिः ॐ नवग्रहाः शान्तिः, ॐ ॠतवः शान्तिः ॐ मासाः शान्तिः। ॐ शान्तिरेव शान्ति भवतु।

१५. दोष दर्शन से बचें – मनुष्य का एक अजीब स्वभाव होता है, दूसरों में बुराई देखना। दूसरों के गुण को ही देखें, अवगुण को न दखें, गुण देखने से मनुष्य गुणवान होता है और मन में शान्ति आती है।

यदि मन को शान्त रखना चाहते हैं, तो भगवती माँ सारदा की इस वाणी का पालन करें – ''यदि शान्ति चाहते हो, तो किसी के दोष मत देखो। अपने दोष देखो। संसार को अपना बना लेना सीखो, कोई पराया नहीं है, यह सारा संसार तुम्हारा अपना है।'' ○○○

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में शिक्षा

स्वामी उरुक्रमानन्द, रामकृष्ण मिशन, सफेद कुटिया, ओंकारेश्वर

ग्रन्थपाल ने हँसी करते हुए कहा कि वे इन पुस्तकों को पढ़ते हैं या यूँ ही देखकर वापस कर देते हैं। स्वामी अखण्डानन्द जी ने ग्रन्थपाल की बात स्वामीजी से कह सुनाई। तब एक दिन स्वामी विवेकानन्द स्वयं ही उस ग्रन्थपाल से मिलने गए और उनसे कहा, मैंने पुस्तकों को अच्छी तरह से पढ़ लिया है, आपको यदि सन्देह है, तो आप किसी भी पुस्तक से प्रश्न पूछ सकते हैं। ग्रन्थपाल ने ऐसा ही किया। स्वामीजी ने सब प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर दिया। यह देखकर उनके विस्मय की सीमा नहीं रही। वे सोचने लगे कि क्या ऐसा सम्भव हो सकता है ! खेतड़ी के राजा के साथ परिचय होने के बाद स्वामीजी जब उनके अतिथि बने, तब राजा ने देखा कि पढ़ने के समय स्वामीजी पुस्तकों की ओर देखकर बहुत जल्दी-जल्दी पृष्ठों को उलटते रहे और इसी प्रकार पूरी पुस्तक पढ़ डाली। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि ऐसा कैसे सम्भव है। स्वामीजी ने समझाकर कहा कि एक छोटा लड़का जब पढ़ना सीखता है, तब वह एक अक्षर को दो तीन बार उच्चारण कर शब्द को पढ़ सकता है। तब उसकी दृष्टि एक-एक अक्षर के ऊपर रहती है। निरन्तर अभ्यास के बाद वह एक दृष्टि में एक वाक्य पढ़ सकता है। इसी प्रकार क्रमश: भाव को ग्रहण करने की क्षमता को बढ़ाए जाने से एक दृष्टि में एक पृष्ठ पढ़ा जा सकता है और वे इसी तरह पढ़ते हैं। स्वामीजी ने और कहा कि यह केवल अभ्यास, ब्रह्मचर्य और एकाग्रता का परिणाम है। एक दिन उन्होंने बेलगाँव वासी हरिपद मित्र के समक्ष चार्ल्स डिकेन्स के पिकनिक पेपर्स को शब्दश: बोलकर आश्चर्यचकित कर दिया था, तब हरिपद मित्र ने यह सुना कि स्वामीजी ने इस पुस्तक को मात्र दो बार पढ़कर ही याद कर लिया है। तो वे और भी आश्चर्य में पड़ गये। स्वामीजी ने हरिपद मित्र से कहा कि एकाग्रता और ब्रह्मचर्य द्वारा ही इस प्रकार की स्मरण शक्ति प्राप्त करना सम्भव है। विदेश से वापस आने के बाद स्वामीजी की एक रोचक घटना है। बेलूड़ मठ में एन्साइक्लोपीडिया की भाषा तक को हू-बहू दुहराकर दिखा दिया। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, देखो एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन करने से सम्पूर्ण ज्ञान एक मुहूर्त में प्राप्त हो जाता है। सुनने मात्र से ही स्मरण हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामीजी ने इन तीन चीजों पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर असाधारण कार्य किया। आज हमारे विद्यार्थी यदि इन आदर्शों पर नहीं चलेंगे, तो उसका परिणाम दुखदायी ही होगा।

दूरदर्शन पर अश्लील फिल्मों को देखने और उच्छृंखल जीवनयापन के कारण आज के विद्यार्थी अपने ब्रह्मचर्य के आदर्श से च्युत हो गए हैं। अभ्यास और एकाग्रता के अभाव में दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं। जब तक मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जाता, तब तक एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती और अभ्यास के बिना स्मरणशक्ति का दिनोदिन ह्रास होता जाता है। आज भी स्वामी विवेकानन्द जी के आदर्शों की प्रासंगिकता बनी हुई है। यदि विद्यार्थी अपना कल्याण चाहते हैं, तो महामानव के जीवन की घटनाओं से प्रेरणा अवश्य ले सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे, वह शिक्षा ही व्यर्थ है, जो मनुष्य-निर्माण और चरित्र-निर्माण न कर सके। वह शिक्षा जो मनुष्य को अपने पैरों पर खड़े होने का सामर्थ्य प्रदान न करे, वे उसे शिक्षा ही नहीं मानते थे। वे कहते थे कि सैकड़ों वर्षों की पराधीनता के कारण भारत देश अपनी अस्मिता और आत्मसम्मान को खो बैठा है। उनका मानना था कि पूरे देश को ही शिक्षित किया जाए, अन्यथा परतन्त्रता की बेड़ियाँ कभी न कटेंगी।

स्वामी विवेकानन्दजी का मानना था कि हमारे निम्न लोगों के लिये हमारा कर्त्तव्य केवल उन्हें शिक्षा देना है और उनके खोए हुए व्यक्तित्व को फिर से प्रज्ज्वलित करना है। हमें उन्हें अच्छे अच्छे भाव देने होंगे। उनके चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा है, इस विषय में उनकी आँखें खोल देनी होगी। इसके बाद वे अपना उद्धार स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक जाति, हर एक नर-नारी को अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। उन्हें इतनी ही सहायता की आवश्यकता है, शेष जो कुछ है, वह इसके फलस्वरूप स्वयं ही आएगा। हमें केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्रित करना होगा। उसके बाद रवों का निर्माण तो प्राकृतिक नियमानुसार स्वयं ही हो जाएगा। हमारा कर्त्तव्य है उनके मस्तिष्क में कुछ चिन्तन धारा प्रवाहित करने की। शेष वे स्वयं ही कर लेंगे। भारत में यही करना विशेष आवश्यक है। पहले सम्पूर्ण राष्ट्र को शिक्षा दो, समाज सुधार के लिये प्रथम कर्त्तव्य है। जनसाधारण को शिक्षित करना होगा। यह शिक्षा सम्पूर्ण होने तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी। जनता को अगर आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाए, तो भारत के एक छोटे से गाँव के लिए संसार की सारी सम्पत्ति लगा देने से भी वह पर्याप्त नहीं होगी। शिक्षा प्रदान करना ही हमारा प्रधान कार्य होना चाहिए। चरित्र और बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा का विस्तार करना चाहिए। ○○○

दक्षिण भारत के सन्त : तिरुमंगै आलवार

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, चेन्नई एवं न्यासी, रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ

इस पुण्यभूमि भारत में सहस्रों वर्षों से बड़े-बड़े सन्तों और महात्माओं ने विभिन्न भागों में जन्म लिया है और आध्यात्मिकता की ज्योति को जलाये रखा है। इन महापुरुषों की श्रेणी में दक्षिण के श्रीवैष्णव भक्त-शिरोमणि 'आलवार' भी आते हैं। 'आलवार' शब्द का अर्थ है 'निमग्न, डूबा हुआ', भगवद्भक्ति में डूबे रहनेवाले भक्त ही 'आलवार' हैं।

परम्परा कहती है कि चोल राजा के अन्तर्गत 'तिरुक्कुरैयलूर' में तिरुमंगै आलवार का जन्म हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इनका जन्म सन् ८०० ई. में हुआ। कहा जाता है कि सत्ययुग में ब्राह्मण, त्रेता में क्षत्रिय तथा द्वापर में वैश्य कुलों को पावन कर इन्होंने इस कलि में शूद्र जाति को अलंकृत किया था। बचपन से ही ये बड़े पराक्रमी योद्धा थे, इसलिए इनका नाम 'परकाल' (शत्रुओं का काल) पड़ गया था। शायद इसी कारण इन्हें भगवान विष्णु के शार्ङ्ग धनु का अंशावतार भी कहते हैं। युवक परकाल लौकिक सुख में डूबे रहे।

'तिरुवेल्लक्कुलम्' नगरी में एक अत्यन्त रूपसी कन्या रहती थी। उसका नाम था कुमुदवल्ली। उसके पिता वैद्य थे। वह रूप के साथ ही विद्या और गुणों से भी सम्पन्न थी। उसकी कीर्ति सुनकर परकाल उसके पिता के पास गये और कुमुदवल्ली से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। कन्याशुल्क के रूप में उन्होंने प्रचुर धन देने का वचन दिया। किन्तु कुमुदवल्ली ने आपत्ति करते हुए कहा – इनमें अन्य सब गुण होते हुए भी ये विष्णु के भक्त नहीं हैं और मैं वैष्णव के सिवा किसी दूसरे से विवाह नहीं करूँगी।

अतएव परकाल ने अपने को श्रीवैष्णव आचार्यों से 'संस्कृत' (शुद्ध) करवा लिया और वे पुन: कुमुदवल्ली के पास गये तथा उससे विवाह का अनुरोध किया। कुमुद ने कहा कि अभी भी कुछ शर्तें बाकी हैं, आपको एक वर्ष प्रतिदिन १००८ श्रीवैष्णवों को भोज देना होगा तथा उनके द्वारा सेवित पवित्र अन्न का प्रसाद ग्रहण करना होगा, तभी हमारा विवाह सम्पन्न हो सकता है। परकाल ने सारी शर्तें मान ली और दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया।

परकाल एक बड़े जमींदार तो थे, पर उन्हें अपने राजा को कर चुकाना होता था। उन्होंने ब्राह्मण-भोज में राजा को देय-कर भी खर्च कर डाला। राजा के पास समाचार पहुँचा। उसने बलपूर्वक कर-वसूली के लिये एक सेना भेजी। वीर परकाल ने सेना को बुरी तरह से परास्त कर भगा दिया। राजा ने एक अन्य उपाय किया। उसने अपने मन्त्री को परकाल के पास सत्संग करने के बहाने भेजा।

जब एक दिन परकाल इष्टदेव की आराधना के लिये मन्दिर में प्रविष्ट हुए, तो सहसा मन्त्री ने मन्दिर को घेरकर उन्हें कैद कर लिया। परकाल ने कैद के दिन उपवास और भगवच्चिन्तन में बिताये। कुछ ही दिनों बाद भगवान ने उन्हें स्वप्न में आदेश दिया कि तुम कांची नगरी जाओ। वेगवती नदी के किनारे अमुक स्थान पर तुम्हारे लिए धन छिपा हुआ रखा है। परकाल ने मंत्री को किसी प्रकार समझा-बुझाकर राजी किया और वे कांचीपुरम् आए। सूचित स्थान पर धन प्राप्त हुआ और राजा का ऋण चुका दिया गया।

पुराण में भगवान के वचन हैं - **''यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्''** (जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्ति पहले हर लेता हूँ।) भगवान और भक्तों की सेवा में परकाल की सारी सम्पत्ति खर्च हो गयी। उनके पास अब एक फूटी कौड़ी भी न रही। अभी तो १००८ वैष्णवों को वर्ष भर भोजन कराने का अधिकांश कार्य बाकी रह गया था। परकाल ने सोचा कि भगवान और भक्तों की सेवा का व्रत पूरा करने तथा अपनी आन रखने के लिए धनी एवं दुष्टों को लूटूँगा। इसलिए उन्होंने अपना एक दल तैयार किया। यह दल जंगल की राह में छिपा बैठा रहता और मौका पाकर अपना कार्य सिद्ध कर लेता।

पर भगवान की इच्छा को समझा नहीं जा सकता। वे मूक को वाचाल बना देते हैं तथा पंगु से पहाड़ लँघा देते हैं। जब मनुष्य के पुण्य का उदय होता है, तो अज्ञात मार्ग से भगवान की कृपा जीवन में अवतरित होती है। परकाल इसके अपवाद न थे। एक दिन भगवान नारायण अपनी संगिनी लक्ष्मी के साथ एक धनाढ्य का रूप धारण कर जंगल के मार्ग से जा रहे थे। परकाल ने अवसर देखकर सहसा उन पर धावा बोल दिया तथा भगवान एवं भगवती को अपने कब्जे में कर लिया। दम्पति का सारा धन छीनकर गठरी बाँध जब वे चलने को तत्पर हुए, तो गठरी उठाने पर न उठी। परकाल ने सोचा कि धनिक ने कुछ जादू कर दिया है। इसलिए वे धनी से बोले, ''क्या गठरी पर कोई

मंत्र फूँक रखा है कि वह इतनी वजनी लगती है? हमें वह मंत्र सिखा दो, नहीं तो तुम्हारी जान खतरे में पड़ जाएगी।''

भगवान भयभीत-से होकर बोल उठे, ''अवश्य सिखाऊँगा जी ! अपना कान तो मेरे पास लाओ। विश्वगुरु नारायण ने स्वयं उन्हें अष्टाक्षरी मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' का उपदेश प्रदान किया। उपनिषद का वचन है कि 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'' (भावार्थ – यथार्थ ब्रह्मज्ञानी यदि उपदेश दें, तो सन्देह दूर हो जाता है)। बस, क्या था परकाल का जन्म-जन्मान्तर का संचित अज्ञान उसी क्षण निवृत्त हो गया। उसके ज्ञानचक्षु खुल गए। लक्ष्मीनारायण की युगल मूर्ति उसके हृदय में प्रतिभासित हो उठी। हथियार और गहने एक कोने में पड़े रहे। परकाल अब डाकू न रह गये, वे 'आलवार' बन गये। 'तिरुमंगै आलवार' (तिरुमंगै ग्राम के आलवार) के नाम से उनकी कीर्ति-कौमुदी चारों दिशाओं में फैलने लगी। दिव्य स्फूर्ति से उनके कण्ठ से भगवन्नाम एवं स्तोत्र झरने लगे। अब आलवार भारत के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा पर निकल पड़े। विभिन्न ८६ पुण्य क्षेत्रों में उन्होंने विशाल विष्णु-मन्दिरों का निर्माण करवाया। इनमें श्रीरंगक्षेत्र का श्रीरंगनाथ (विष्णु) जी का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है।

इस श्रीरंग क्षेत्र में जब आलवार आए, तो उन्होंने वहाँ एक पुराना बुद्ध-मन्दिर देखा, जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा था। वहाँ उन्हें एक दिव्य आदेश सुनायी पड़ा कि 'हमारे मन्दिर, गुम्बद, प्राकार आदि का उत्तम रीति से निर्माण हो।' इस आज्ञा को शिरोधार्य कर आलवार उस प्राचीन भग्न मन्दिर के समीप आए। उनकी इच्छा थी कि उस जीर्ण मन्दिर के स्वर्ण आदि से रंगनाथ जी की सेवा की जाए। किन्तु उन्होंने देखा कि उसके अन्दर प्रवेश करना बड़ा कठिन है। उसमें न द्वार था, न दूसरा कोई रास्ता। किम्वदन्ती है कि इस रहस्य को जानने के लिये वे उस मन्दिर का निर्माण करने वाले शिल्पी से मिले। इसके लिए उन्हें सिंहल द्वीप जाना पड़ा था। अन्त में वहाँ की सारी सम्पत्ति हस्तगत कर उन्होंने श्रीरंगनाथजी की सेवा सम्पूर्ण की।

अब उनकी दृष्टि अपने पूर्ववर्ती भक्तों की सेवा की ओर गयी। श्रीवैष्णव-परम्परा में अग्रगण्य 'नम्मालवार' (हमारे आलवार) की स्मृति को बनाए रखने के लिये वे उनके जन्मस्थान गये। वहाँ अपनी भक्ति एवं योगबल से उन्होंने नम्मालवार का दिव्य दर्शन प्राप्त किया। भावावस्था में उन्होंने उनसे वार्तालाप भी किया। इस दर्शन से उन्हें विश्वास हो गया कि नम्मालवार भगवान से अभिन्न हैं और नित्यमुक्त पुरुष हैं। मुमुक्षु जीवों के लिए उनकी पूजा एवं ध्यान अत्यन्त लाभप्रद जानकर उन्होंने वहाँ उनकी नित्यपूजा की व्यवस्था कर दी। यह पूजा अभी तक समस्त श्रीवैष्णव-मन्दिरों में चली आ रही है।

तीर्थयात्रा करते समय एक स्थान पर उनकी भेंट प्रसिद्ध भक्तप्रवर ज्ञानसम्बन्धर से हो गयी। भले ही ज्ञानसम्बन्धर शिवजी के भक्त और उपासक थे, तथापि उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक आलवार से सम्भाषण किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए उन्हें अपनी इष्टमूर्ति 'सुब्रह्मण्य' के अंलकारों में से एक भाला प्रदान किया।

भगवत्प्रेम से विभोर हो तीर्थयात्रा करते-करते आलवार ने अपनी आयु के १०५ वें वर्ष में महेन्द्र गिरि के समीप भद्रासन में देह-त्याग किया। इस स्थान का तमिलनाम तिरुक्कुरूंगडी है। इनके द्वारा प्रणीत भक्तिगीतों की संख्या १३६१ हो गयी थी। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में, जिसके आदि-आचार्य सुप्रसिद्ध रामानुज थे, तिरूमंगै आलवार की बहुत अधिक प्रतिष्ठा है। तमिलवेद के ४००० पाशुरम् (मन्त्र पद्य) में इनके अकेले सबसे अधिक १३६१ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का वैदिक मन्त्रों के साथ पूजादि में विनियोग होता है।

तिरुमंगै आलवार ने कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों की भी रचना की है। उनके नाम निम्नलिखित हैं –

१. 'पेरिय तिरुमोलि' – इसमें भगवान के विरह से तड़पते जीव की वेदना को विरह-शृंगार रस में व्यक्त किया गया है।

२. 'तिरुक्कुरुन्ताडकम्' – यहाँ कहा गया है कि भगवन्नाम ही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है तथा भगवत्सेवादि से ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

३. 'तिरुनेडुन्ताण्डकम्' – यह भगवद्विरह-प्रतिपादक ग्रन्थ है।

४. 'तिरुवेलुक्कुट्रिरुक्कै' – इन पाशुरमों (मंत्रों) में आलवार ने भगवान से प्रार्थना की है कि प्रभो, तुम सब प्रकार से मेरी रक्षा करो, तुमने ब्रह्मा की सृष्टि की, दस अवतारों के रूप धारण किये, फिर मुझे क्यों नहीं तारते?

५. शिरिय तिरुमडल' – आलवार ने यहाँ अपने को नायिका और ईश्वर को नायक के रूप से चित्रित कर जीव और ईश्वर के वास्तविक सम्बन्ध का वर्णन किया है।

६. 'पेरिय तिरुमडल' – यह इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

(प्रस्तुत लेख विवेक-ज्योति, १९७४ के अन्तिम त्रैमासिक अंक से पुनर्मुद्रित किया गया है।) ○○○

विपरीत ज्ञान

डॉ. अनिलकुमार अग्रवाल, कुरुक्षेत्र

गुरुजी (परमहंस ज्ञानेश्वर) कभी-कभी अपनी बातचीत में एक शब्द का प्रयोग करते हैं, विपर्यय ज्ञान या विपरीत ज्ञान। कई बार वे हमसे कहते हैं, ''तुम तो विपरीत ज्ञानी हो।''

विपरीत ज्ञान का अर्थ है – गलत को सही समझ लेना। जो बात सच्ची है, वास्तविक है, ठीक उससे उलटी बात को सच समझ लेना। सत्य को असत्य मान लेना और असत्य को सत्य समझ लेना। केवल समझ ही नहीं लेना, अपनी भ्रान्त समझ पर डटे रहना, अड़ जाना, उसे पक्का मान लेना, उस पर दृढ़ हो जाना। यही विपरीत ज्ञान है।

उदाहरण के लिये अपनी आन्तरिक स्थिति से हम पूरी तरह सन्तुष्ट जान पड़ते हैं, तथा अपनी बाह्य-स्थिति से, अपनी व्यवस्था से असन्तुष्ट। हमें स्वयं का कोई पता नहीं, हमारा भीतरी जीवन घृणा, क्रोध, झूठ, मूढ़ता, बेईमानी, चालाकी, बेहोशी से भरा हुआ है, पर हम उससे पूरी तरह सन्तुष्ट होते हैं, अत: उसमें सुधार लाने का हमें ख्याल भी नहीं आता। परन्तु अपनी व्यवस्था से, जो पैसा हम कमाते हैं, जिस पद पर हम आसीन हैं, जो हमारी प्रतिष्ठा समाज में है, उससे हम तनिक भी सन्तुष्ट नहीं हैं। अत: उसे सुधारने के लिए, अपनी व्यवस्था को, पद-प्रतिष्ठा को बेहतर से बेहतर बनाने के लिये हम सदा प्रयत्नरत रहते हैं। यह विपरीत ज्ञान है। सही ज्ञान तो यह होता कि अपनी बाह्य स्थिति से हम सन्तुष्ट होते, जितनी आवश्यक हो उतनी ही व्यवस्था अपने लिये करते रहते तथा बाकी का सारा समय और सारी ऊर्जा, अपनी आन्तरिक स्थिति को सुधारने में, अपने अज्ञान और असजगता को दूर करने में लगाते। क्या यह विपरीत ज्ञान नहीं है कि अपनी बाह्य स्थिति, अपनी दशा को बदलने के लिये हम सदा प्रयासरत रहते हैं। किन्तु अपनी आन्तरिक स्थिति को, अपनी दिशा को बदलने का कभी ख्याल भी नहीं करते।

प्राय: हम अपनी प्रशंसा करने वालों से प्रसन्न हो जाते हैं तथा अपनी आलोचना करने वालों से नाराज और यदि कोई हमारी निन्दा करे, तब तो हम सहन ही नहीं कर पाते। यही कारण है कि चापलूसी इतनी कारगर प्रतीत होती है। प्राय: तो सौ में से नब्बे अवसरों पर प्रशंसा झूठ ही होती है। यदि वह सत्य भी हो, तब भी हमें उससे कोई लाभ नहीं। परन्तु यदि हमारी कोई आलोचना करे, निन्दा करे, हमारे दोष कोई उजागर करे, तो हमारे क्रोध की कोई सीमा नहीं रहती। जबकि आलोचना या निंदा यदि झूठ हो, तब भी हमें उससे कोई हानि नहीं। यदि वह तनिक भी सच हो, तो उससे लाभ ही लाभ है। अपनी भूल हमें पता चल जाएगी और हम उसे सुधार सकेंगे। प्रशंसा से हमें कभी कोई लाभ नहीं होता तथा हमारी कोई निंदा करे, उससे हमें कभी कोई हानि नहीं होती। तभी तो कबीर साहब कहते हैं, **''निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।''** संत पलटू तो यह सुनकर कि निन्दक मर गया, रो ही पड़े। किन्तु हम भी विपरीत ज्ञानी हैं। प्रशंसकों से घिरे रहना पसन्द करते हैं, आलोचकों से स्वयं को दूर रखते हैं।

हम कोई भी कार्य क्यों न करें, हमारी दृष्टि सदा परिणाम पर लगी रहती है। कार्य तो हमारे लिए आवश्यक है। कार्य तो हमें करना पड़ता है, फल की हमें आकांक्षा है। प्राय: फल में हमारी आसक्ति हमें कुशलता-पूर्वक कार्य करने ही नहीं देती। हम आधे-अधूरे मन से कार्य करते हैं। हमारे कर्म प्राय: अधूरे ही रह जाते हैं, क्योंकि उन्हें पूरा करने में न हमारी रुचि होती है, न भाव, न प्रतिबद्धता। यही तो विपरीत ज्ञान है। यदि कर्म करने में हम पूरी ऊर्जा व रुचि लगायें और फलाकांक्षा से हम विरक्त हो जाएँ, फल पर हमारा ध्यान ही न हो, तो हम कर्म बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

हमारी दृष्टि दूसरों के दोषों और अपने गुणों पर जाती है। यह विपरीत ज्ञान है। होना यह चाहिए कि हम दूसरों के गुण देखें, ताकि हमारे भीतर भी ऐसे गुणों को आत्मसात् कर उन्हें विकसित करने की प्रेरणा हो और अपने दोष हम देखें, ताकि उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकें।

अपनी देह को हम हर तरह का विश्राम देना चाहते हैं और अपने मन को सदा काम में, यानी विचारों में, लगाए रखते हैं। हमारी कुर्सियाँ, हमारे घर, हमारी कार, हमारे बिस्तर, हमारे रहने का तौर-तरीका, हमारे जीने का ढंग ऐसा है कि हमारे शरीर को अधिक से अधिक आराम मिले। हमारा शारीरिक स्वास्थ्य इस युग में जितना खराब है, इतना कभी भी न था। आज से पचास साल पहले, आज की तुलना में व्यक्ति चार गुना अधिक शारीरिक श्रम करता था और स्वस्थ रहता था क्योंकि तन-मन के स्वास्थ्य का सीधा

सा नियम है : शरीर जितना श्रम करेगा उतना स्वस्थ रहेगा। मन जितना विश्राम करेगा, मन में विचारों की शृंखला जितनी कम होगी, मन उतना ही स्वस्थ, उतना ही बुद्धिमत्ता-पूर्ण होगा। हमारे मन में चलने वाले व्यर्थ के विचार, न केवल हमारी ऊर्जा का अपव्यय करते हैं, अपितु हमारी बुद्धिमत्ता को भी कम कर देते हैं। पर हम तो विपरीत ज्ञानी हैं – मन को सदा काम देते हैं, दौड़ाते रहते हैं और शरीर को विश्राम। यदि इस स्थिति को हम पलट दें, मन को विश्राम दें, और शरीर को काम (श्रम), तो तन-मन दोनों ही स्वस्थ व ऊर्जावान हो सकते हैं।

अपनी कामनाओं की पूर्ति में हम इतने संलग्न हो जाते हैं, इतना खो जाते हैं कि कई बार अपनी आवश्यकताओं की भी उपेक्षा कर देते हैं, उन पर ठीक से ध्यान नहीं दे पाते। आवश्यकताएँ प्राय: हमारी देह से जुड़ी होती हैं, और कामनाएँ मन से। यह विपरीत ज्ञान है। सही ज्ञान यह है कि हम अपनी आवश्यकताओं को तो उचित तरीके से, सही ढंग से पूरा करें, उन पर पूरा ध्यान दें तथा अपनी कामनाओं को देखकर अनदेखा कर दें। अत: हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपनी आवश्यकताओं तथा कामनाओं में अन्तर करना सीखें। आवश्यकता पूरी न हो तो कष्ट देती है, दुख देती है, पूरी हो जाए, तो सुख देती है। कामना पूरी हो या ना हो, सदा ही दुख देती है। कामना पूरी हो जाए तो लोभ, असुरक्षा, भय को जन्म देती है, अधूरी रह जाए तो संघर्ष पैदा करती है, कामना में अवरोध आए तो क्रोध उत्पन्न होता है, अत: कामना सदा दुख की जन्मदात्री है। इसलिये हमें चाहिये कि अपनी आवश्यकताओं को तो हम पूरा करें, पर कामनाओं की उपेक्षा कर दें।

हम ऐसे व्यक्तियों का संग करना पसन्द करते हैं, जो समझ और बुद्धि में हमसे कम हों, क्योंकि उनके संग से हमारे अहंकार को तृप्ति मिलती है। हम ऐसे व्यक्तियों का संग नहीं पसन्द करते जो हमसे अधिक समझदार, अधिक बुद्धिमान होते हैं, क्योंकि उनके संग से हमारे अहंकार पर चोट पहुँचती है। यह विपरीत ज्ञान है। यदि हम अपने से अधिक समझदारों का संग सजगता से करें, तो हमारी समझ भी विकसित होनी शुरू हो जाएगी।

यदि हम अपने जीवन का सूक्ष्म अवलोकन करें, तो इस 'विपरीत ज्ञान' के बहुत से उदाहरण हम उसमें खोज सकते हैं। विपरीत ज्ञान से सही-ज्ञान की ओर की यात्रा ही सम्यक् यात्रा है, यही जीवन की सही दिशा की, जीवन की परिपूर्णता की यात्रा है। ○○○

वह चोर एक भक्त था

स्वामी विवेकानन्द की जोसेफाइन मेक्लाउड नाम की एक अमेरिकन अनुयायी थीं। उन्हें प्रेम से लोग टेन्टिन कहते थे। अपनी भारत-यात्रा के समय वे बेलूड़ मठ के 'गिरीश स्मृति भवन' में रुकी हुई थीं। एक दिन गहरी रात में एक चोर टेन्टिन के कमरे में घुसा और उनके गले का हार छीनने की चेष्टा करने लगा। टेन्टिन ने जोर से चिल्लाया। आवाज सुनकर कुछ साधु एवं कर्मचारीगण वहाँ पहुँचे और चोर को पकड़ा। सबने ने चोर की जमकर पिटाई की और उसे रस्सी से बाँध दिया। भोर होते ही उसे एक चबूतरे पर बिठाया गया।

उस समय रामकृष्ण मठ-मिशन के संघाध्यक्ष स्वामी शिवानन्द महाराज थे। स्वामी विवेकानन्द उन्हें 'महापुरुष' कहते थे, इसलिए संन्यासी-भक्तवृन्द के बीच वे 'महापुरुष महाराज' के नाम से जाने जाते थे। प्रतिदिन सुबह महापुरुष महाराज जप-ध्यान के बाद लाठी लेकर मठ-भवन के चारों ओर घूमकर देखते थे। यह उनका नित्य-अभ्यास था। उस दिन टहलते समय उन्होंने उस चोर को देखा। उन्होंने परिहास करते हुए चोर से कहा, 'क्यों रे, क्या यहीं चोरी करने के लिए तुझे आना था? लड़के पारी-पारी से मार दें, तो तेरे प्राण ही चले जाएँगे।' इतना कहकर वे फिर टहलने चले गए।

थोड़ी देर बाद वे अपने कमरे में आकर जलपान करने लगे। टेन्टिन भी महराज से मिलने आईं और गत रात्रि की घटना सुनाने लगीं, 'महापुरुष महाराज, क्या आपने सुना है कि मेरे कमरे में एक चोर घुसा था? मुझे लगता है कि वह चोर एक भक्त ही था, क्योंकि अन्य वस्तुएँ होते हुए भी उसने केवल मेरे गले का हार चुराने की कोशिश की। आप तो जानते ही हैं कि उस हार में स्वामी विवेकानन्द का दिया हुआ लॉकेट था। मेरा विश्वास है कि चोर का प्रयोजन केवल स्वामीजी द्वारा प्रदत्त लॉकेट से ही था।''

महापुरुष महाराज तो सरलता की मूर्ति थे। उन्होंने टेन्टिन की बात पर विश्वास कर लिया। उन्होंने एक संन्यासी को आदेश दिया कि वे चोर को गंगा स्नान कराके उनके पास ले आए। संन्यासी भी हतप्रभ हो गए। जिस चोर को रात में पीटा गया था, उसको पुलिस को देने के बदले गंगा-स्नान कराने ले जाना !!! महापुरुष महाराज ने चोर के लिए एक हाथ का बुना हुआ और सुन्दर कपड़ा और उत्तरीय भेजा। चोर भी गंगा-स्नान करके उन कपड़ों को पहनकर मठ-भवन में स्वतन्त्र घूमने लगा। वह स्वेच्छा से महापुरुष महाराज को प्रणाम करने आया। महापुरुष महाराज ने बड़े प्रेम से उससे पूछा, 'क्यों रे, तू साधु बनेगा?' उसके बाद वह वहाँ से चला गया। महापुरुष महाराज के इस प्रश्न का क्या फल हुआ, इसका तो कुछ विवरण नहीं है, किन्तु महाराज के अहैतुक प्रेम से निस्सन्देह उसके जीवन में सकारात्मक परिवर्तन आया होगा। ○○○

ईश्वर की मातृमूर्ति : श्रीमाँ सारदा

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा
प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय संस्कृति में माँ को इतना गौरवपूर्ण स्थान इसीलिए दिया गया है, क्योंकि संसार में एक वही है जिसका स्वरूप ईश्वर के इतने निकट है। वह भी ईश्वर की भाँति सृजन करती है, धारण करती है और पोषण करती है। वह अपनी सन्तान को जन्म देती है, उसका लालन-पालन करती है, उसे संस्कार देती है। माता अपनी सन्तान के दोषों का परिमार्जन कर उसे संस्कारशील बनाती है, इसीलिए हमारे शास्त्रों में माता को प्रथम गुरु की संज्ञा दी गई है और 'मातृदेवो भव' कह कर गुरु अपने शिष्य को माता का देवतुल्य समादर करने की आज्ञा देते हैं। माँ अपने शिशु के लिए संसार में सबसे बड़ी सुरक्षा होती है। एक उसका ही मन इतना उदार होता है कि सन्तान के बड़े-से-बड़े अपराध को क्षमा कर सके। जो सन्तान जितनी अधिक निर्बल और अशक्त है, वह माँ के हृदय के उतने ही समीप है। ऐसी क्षमा, ऐसी करुणा, ऐसा नि:स्वार्थ प्रेम ईश्वर का ही लक्षण है और यही मातृत्व का स्वरूप है।

इस मातृत्व का जैसा प्रकाश हमें श्रीमाँ सारदामणि के व्यक्तित्व में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। श्रीमाँ ईश्वर की मातृमर्ति हैं, साक्षात् अभयरूपिणी हैं। संसार के प्रत्येक प्राणी के लिये उनके हृदय से स्नेह का निर्झर बहा करता था। श्रीरामकृष्ण देव तो हिमालय का उत्तुंग शिखर थे, सामान्य व्यक्ति का उन तक पहुँचना, उन्हें समझ पाना अत्यन्त कठिन था, सामान्य कोटि के सांसारिकों के लिए तो लगभग असम्भव ! बिरले ही उन तक पहुँच कर उनकी कृपा के अधिकारी हो सके थे, किन्तु माँ तो सहजता और सरलता की प्रतिमूर्ति थीं। वे मानो उस पतित पावनी गंगा की भाँति थीं, जो हिमालय की सारी दिव्यता और पवित्रता लेकर संसार की विषम भूमि पर बहा करती हैं, तथा राजा और रंक, पुण्यात्मा और पापी में कोई भेद किये बिना उसके पाप-ताप अपनी लहरों में बहा ले जाती हैं।

जब हम किसी अवतार के व्यक्तित्व पर विचार करते हैं, तो दो विशेषताएँ सामने आती हैं - परत्व और सौलभ्य। ये दोनों ही बातें महत्त्वपूर्ण हैं। परत्व अर्थात् दिव्यता या ईश्वरता और सौलभ्य अर्थात् उपलब्धता या बोधगम्यता। इस सौलभ्य के कारण ही हम ईश्वर को मनुष्य के रूप में देखते हैं, स्पर्श करते हैं, प्रेम करते हैं, दूसरे शब्दों में उससे संवाद स्थापित कर पाते हैं। श्रीठाकुर के व्यक्तित्व में परत्व अधिक था और श्रीमाँ के व्यक्तित्व में सौलभ्य। माँ एक साधारण गृहिणी की भाँति रहती थीं। घर के साधारण कार्य वे किसी भी अन्य सामान्य गृहिणी की ही भाँति करतीं, झाड़ू देना, बर्तन साफ करना, भोजन पकाना, अतिथियों और ठाकुर के शिष्यों की देखभाल करना। स्वयं ठाकुर की प्रत्येक सेवा भी उनका ही दायित्व था। साधारण भाव से काम करती, बातें करती, हँसती-रोती, माँ वस्तुत: क्या हैं, किसी को अनुमान भी नहीं होता। उनकी साधना आत्मगोपन की साधना थी, इसीलिए ठाकुर उन्हें 'राख से ढकी बिल्ली' कहते थे। उनकी आध्यात्मिक शक्तियों और उनकी दिव्यता का बोध बहुत कम लोगों को था। ठाकुर के कतिपय शिष्य ही उनके महिमापूर्ण व्यक्तित्व से परिचित थे, शेष तो उन्हें ममतामयी गुरुपत्नी के रूप में ही जानते थे। वास्तविकता तो यह है कि माँ ही ठाकुर की प्रथम शिष्या थीं, और उनका चरित्र ठाकुर के जीवनदर्शन और उपदेशों का व्यावहारिक निर्देशन था। माँ ने अपने जीवन से यह सिखलाया कि संसार के सामान्य कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी आत्म-साक्षात्कार या ईश्वरानुभूति प्राप्त की जा सकती है। ठाकुर कहते थे कि मनुष्य को एक हाथ ईश्वर के चरणों पर रखे रहना चाहिए और दूसरे हाथ से संसार के काम निबटाने चाहिए। कार्य समाप्त होने पर दूसरा हाथ भी प्रभु के चरणों पर रख देना चाहिए। यह किस प्रकार सम्भव है, यही माँ के जीवन से स्पष्ट होता है।

श्रीमाँ की अवतारमूर्ति में सौलभ्य की प्रधानता होने से वे लोगों को अपनी जैसी ही लगती थीं, वे उनसे अधिक आत्मीयता अनुभव करते थे, उनसे हृदय संवाद स्थापित कर पाते थे। उन्हें लगता था कि माँ यदि नाते-रिश्तेदारों के साथ रहते हुए, साधारण गृहिणी के सारे कर्तव्यों का पालन करते हुए साधना कर सकती हैं, तो उनके भी उद्धार का उपाय हो सकता है।

माँ की इस सहजता की अभिव्यक्ति होती थी उनके स्वभावगत मातृत्व में। ठाकुर ने सबसे पहले उनके इस विराट मातृत्व को पहचाना था और इसीलिए उनमें जगदम्बा का स्वरूप देखा था। उनके मातृहृदय को पहचान कर ही उन्होंने अपने समस्त शिष्यों और भक्तों का भार माँ को सौंपा था। यह सत्य है कि माँ एक ऐसी विभूति थीं, जो मानव मात्र के लिए मुक्ति का सन्देश लेकर अवतरित हुई थीं। उनकी ममतामयी दृष्टि ने पात्र-कुपात्र का विचार कभी नहीं किया। वे जो निर्बल, अशक्त और साधना की दृष्टि से असमर्थ थे, उन सबको उन्होंने अपने आँचल में समेट लिया। ठाकुर के शिष्य या माँ के साथ रहनेवाली भक्त-स्त्रियाँ जब कभी इस बात पर टिप्पणी करतीं, तो माँ का यही उत्तर होता कि धूल और गन्दगी में लिपटा अबोध शिशु यदि माँ के पास आए, तो क्या यह माँ का दायित्व नहीं है कि उसे आँचल से साफ कर अपनी गोद में स्थान दे?

माँ की इस ममतालु प्रकृति पर जितना विचार करते हैं, मन उतना ही भावविह्वल हो उठता है। आध्यात्मिक साधना का वह दुर्गम पथ जिसे उपनिषद 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कह कर सम्बोधित करते हैं, कैसी विकट तपश्चर्या और आत्मसंयम की अपेक्षा रखता है ! ठाकुर भी दीक्षा देने के पूर्व पात्रता का बड़ा ध्यान रखते थे, किन्तु इस महिमामयी माता ने कैसे अपात्र, अयोग्य प्राणियों के हाथ भी जीवनमुक्ति की कुंजी थमा दी थी। जो पावनी शक्ति उनके ममता भरे कर-स्पर्श में थी, वह घोर पापियों का भी उद्धार करने में समर्थ थी। इतने पर भी जो शिष्य थोड़ा भी पुरुषार्थ नहीं करते थे, उनके भाग का जप-तप और उनके निमित्त ठाकुर से क्षमायाचना भी माँ को ही करनी पड़ती थी, भले ही वे स्वयं अस्वस्थ हों। ऐसी करुणा सामान्यत: गुरु में भी नहीं होती, ऐसी करुणा केवल एक माँ के हृदय में होती है, जो अपनी अयोग्य सन्तान का भी अहित होते नहीं देख सकती।

माँ सारदा अधिक उपदेश आदि नहीं दिया करतीं थीं, न ही सुबह-शाम कोई प्रवचन-सत्र चलाती थीं। शिष्यों-भक्तों का कुशल-क्षेम पूछते, उन्हें खाना परोसते, उनके जूठे बर्तन समेटते कभी कोई सूत्र-वाक्य कह देतीं थी, बस वही मानो सारे गूढ़ रहस्य खोल देता था।

वे सबकी माँ थीं, मनुष्यों की, पशु-पक्षियों की, प्राणीमात्र की। उनकी दृष्टि भेदभाव नहीं जानती थी, वह चाहे भारतीय हो या अँग्रेज, चाहे स्वामी सारदानन्द हों, चाहे अमजद, स्वामी विवेकानन्द हों या रात भर यात्रा करके अपना दुखड़ा रोने आया कोई निपट ग्रामीण, सब एक समान स्नेह के पात्र थे। तिरस्कार तो उन्होंने कभी किसी का किया ही नहीं। यदि कोई अपनी विपदा कहने आया है, अपनी विपत्ति में उनकी कृपा का अवलम्बन चाहता है, तो माँ उसकी बात पूरी गम्भीरता और मनोयोग से सुनती थीं, चाहे पूजा में विलम्ब हो, चाहे ठाकुर को भोग देने का समय बीत रहा हो। कभी-कभी यदि कोई दुश्चरित्र उनके चरणों को पकड़कर कृपा-याचना कर जाता, तो माँ देर तक असह्य जलन से छटपटातीं, पैरों पर गंगाजल डलवाती रहतीं, किन्तु उससे कभी यह नहीं कहतीं कि "तुम मुझे स्पर्श करने की पात्रता नहीं रखते।" ऐसी अद्भुत सहनशीलता और परदु:खकातरता थी उनमें ! कभी-कभी तो भक्तों की विपत्ति की बातें सुनकर वे भी उनके साथ रुदन कर उठतीं।

मातृत्व ही माँ के व्यक्तित्व का सार था, तभी तो जब ठाकुर ने उनसे शिकायत की कि आज तुमने मेरा भोजन एक ऐसी स्त्री के हाथ भेज दिया, जिसका आचरण ठीक नहीं है, मैं यह भोजन नहीं कर सकूँगा, तब माँ ने उनसे प्रार्थना की थी कि आज भोजन कर लें, आगे से वे इस बात का ध्यान रखेंगी कि वे उनका भोजन स्वयं लेकर आएँ। ठाकुर ने जब उनसे वचन चाहा कि भविष्य में वे कभी उस स्त्री को भोजन का स्पर्श नहीं करने देंगी, तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निवेदन किया कि मैं ऐसा कोई वचन नहीं दे सकती, क्योंकि 'माँ' कह कर यदि कोई मुझसे कोई प्रार्थना करेगा, तो मैं मना नहीं कर सकूँगी।

उन्हें सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि ठाकुर के शिष्यों में किसे भोजन में क्या प्रिय है, कौन क्या पचा सकता है, क्या नहीं, किसे रात में दूध चाहिए, किसे सुबह चाय पीने का अभ्यास है। यह बड़ा स्वाभाविक है, क्योंकि माँ को तो पहले यही चिन्ता रहती है कि उसके बच्चे ने कुछ खाया है या नहीं ! सारदा देवी के इस निश्छल मातृत्व में एक प्रबल आश्वासन था, एक प्रचण्ड शक्ति थी, जो कवच बनकर उनकी सन्तानों कीं, रामकृष्ण संघ की रक्षा करती थी। दु:खी-दरिद्र दीनजनों के लिए अभय की मानो एक प्रतिश्रुति थीं – **'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'**

माँ और ठाकुर दो नहीं थे, एक ही थे, तभी तो माँ प्राय: कहती थीं – 'जो ठाकुर हैं, वही मैं हूँ'। इस

एकात्मकता की अनुभूति के बावजूद माँ सदैव ठाकुर को ही आगे करके चलतीं थीं, ठाकुर से ही प्रार्थना करने को कहती थीं, उनकी ही शरण में जाने को कहती थीं। माँ स्वयं को ठाकुर से और ठाकुर को स्वयं से अभिन्न जानकर ही ऐसा कहती थीं।

गुरु और माता में अनेक समानताएँ हुआ करती हैं। जैसे माता बालक की चिन्ता करती है, वैसे ही गुरु भी करते हैं। माता जिस प्रकार बालक को संस्कार देती है, गुरु भी उसी प्रकार शिष्य के दोष दूर कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जैसे माँ अपने बच्चे के अपराध को क्षमा करती है, गुरु भी वैसे ही शिष्य के अपराध को क्षमा करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि गुरु पात्र-अपात्र का विचार रखते हैं, उनकी सहनशीलता और क्षमादान की सीमा है, किन्तु माँ के वात्सल्य की सीमा नहीं है, उसके त्याग और उसकी क्षमा की भी सीमा नहीं है। वह अयोग्य सन्तान का भी मंगल चाहती है। श्रीमाँ प्रथमत: और अन्तत: माता ही थीं, इसलिए उनका गुरुरूप इतना सहृदय और उदार था। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि प्रेम की शक्ति ही महान है, प्रेम जैसा परिष्कार और रूपान्तरण कर सकता है, उपेदश और बाह्य अनुशासन वैसा नहीं कर सकता और दण्ड तो बिल्कुल भी नहीं कर सकता।

'आत्मवत्सर्वभूतेषु य: पश्यति स पश्यति' – माँ ने सर्वत्र उस दिव्य परमात्मा की ही झलक देखी और वस्तुत: सबसे प्रेम करते हुए भी वास्तव में केवल परमात्मा से ही प्रेम किया। ठाकुर जिस युगान्तरकारी आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रधार उन्हें बना गए थे, वह उनके स्नेह-जल से सिंचित हो फूली-फली। उनके आशीर्वाद के आश्रय में रामकृष्ण संघ विश्व में विराट वटवृक्ष की भाँति फैल गया और असंख्य-असंख्य मनुष्यों के श्रेय और प्रेय का संवाहक बना।

माँ ने जीवनभर बस अपने कर्तव्यों का ही पालन किया, अपने अधिकारों की न चर्चा की न चाह। उन्होंने अपने जीवन में यह दिखलाया कि अधिकार न माँगे जाते हैं, न छीने जाते हैं; अधिकार अर्जित किये जाते हैं। यही कारण था कि उस सरल हृदय ममतामयी नारी के चरणों में कोटि-कोटि जनों ने अपना जीवन अर्पित कर दिया। उनके स्नेह-भीने मातृत्व की वह अमोघ वाणी, ''याद रखना कि तुम्हारी एक माँ है, कहने भर की नहीं, सचमुच की तुम्हारी अपनी माँ'' – आज भी न जाने कितने पथहारा यात्रियों का जीवनदीप है। OOO

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

२८०. जासु राज प्रजा दुखियारी

खलीफा उमर रात्रि के समय भेष बदलकर भ्रमण के लिए निकले थे, तभी उन्हें एक झोपड़ी से बच्चों के रोने की आवाज सुनाई दी। रुदन सुनकर उनसे रहा न गया। वे जब अन्दर गए, तो उन्हें एक दुबली-पतली महिला धरती पर लेटी हुई दिखाई दी। पास ही बच्चे क्रन्दन कर रहे थे। उन्होंने उस स्त्री से बच्चों के रोने का कारण पूछा। उस स्त्री ने खलीफा को बताया कि घर का अनाज समाप्त हो गया है। खाने के लिए घर में कुछ भी नहीं है। भूखे होने के कारण बच्चे रो रहे हैं। खलीफा को जब एक कोने में चूल्हे पर हांड़ी रखी हुई दिखाई दी, तो वे वहाँ गये और उन्होंने हाड़ी पर रखी थाली हटाई, तो वह खाली दिखाई दी। उन्होंने स्त्री को डाँटते हुए पूछा, ''जब घर का अनाज समाप्त हो गया था, तो तुमने खलीफा को यह बात क्यों नहीं बताई?'' सुनते ही स्त्री तमतमाती हुई बोली, ''खलीफा ने प्रत्येक घर के लोगों को सेना में भर्ती कर रखा है। सैनिकों को युद्ध के लिये भेजने पर क्या उसका कर्तव्य नहीं बनता कि वह सैनिकों के घरवालों का पालन करे। प्रजा के कारण बादशाह राजा बनता है। इसलिये उसकी सुख-सुविधाओं का उसे ध्यान रखना चाहिये। जो राजा प्रजा की कुशलता और सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं देता, उससे विनती करने से क्या लाभ?'' खलीफा सुनकर स्तब्ध रह गया। उसने कहा, ''बहन अभी खलीफा के पास जाकर तुमलोगों के खान-पान और दूसरी आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करता हूँ। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में तुम्हें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।''

राजा प्रजा का सेवक होता है। प्रजा का कल्याण करना और सुख देना उसका कर्त्तव्य है। इस कर्तव्य से वह मुँह नहीं मोड़ सकता। OOO

तुम जो कुछ बल या सहायता चाहते हो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो।

– स्वामी विवेकानन्द

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक गौरव

आचार्य रमेन्द्र नाथ मिश्र
का. अध्यक्ष, छत्तीसगढ़ साहित्य अकादमी, रायपुर

गढ़ों का गढ़ छत्तीसगढ़ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से देश का महत्त्वपूर्ण भू-भाग है, उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम भारत को जोड़नेवाली एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कड़ी है। यहाँ पर सर्वधर्म समभाव की भावना सार्वजनीन हित चिन्तन की दृष्टि से अतीत से अद्यतन विद्यमान है।

छत्तीसगढ़ गिरि श्रृंखलाओं से आवेष्टित, वनाच्छादित नदियों एवं झरनों के कल-कल निनाद से परिपूर्ण नैसर्गिक छटा युक्त आकर्षक स्थल है।

छत्तीसगढ़ में प्रागैतिहासिक युग के प्रारम्भ से वैदिक युग महाकाल काल (रामायण, महाभारत) महाजनपद युग आज से २६०० वर्ष पूर्व जैनधर्म एवं बौद्ध धर्म के दार्शनिक चिन्तन से लेकर मौर्यकाल, शुंगकाल, सातवाहन काल, गुप्त वाकाटक काल, शरभपुरीय पाण्डुवंशी, सोमवंशी, राजर्षि तुल्य कुलवंश, ललनागवंश, (छिन्दक नागवंश बस्तर एवं फणीनागवंश भोरमदेव कवर्धा) एवं रतनपुर रायपुर के कल्चुरी राजवंश, नागपुर का भोंसला काल एवं अंग्रेजी राज के उतार-चढ़ाव का यह भू-भाग साक्षी है।

महानदी, इन्द्रावती की घाटी एवं छत्तीसगढ़ की माटी ने यहाँ की संस्कृति के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आचार्य सरयूकान्त झा कहा करते थे, छत्तीसगढ़ की संस्कृति ऋषि और कृषि की रही है। महानदी की घाटी में सप्तर्षियों की चर्चा होती है, तो दूसरी ओर सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ में कृषि संस्कृति का उन्नयन, अम्बिकापुर से जगदलपुर एवं डोंगरगढ़ से रायगढ़ अंचल तक धान के कटोरा इस क्षेत्र में कृषि का क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है।

मध्यप्रान्त एवं बरार में १५ सामंती राज्य थे, जिसमें एक मकराई होशंगाबाद को छोड़कर शेष १४ राज्य एवं लगभग ३६ जमींदारियाँ छत्तीसगढ़ में रही हैं।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में जब हम विचार करते हैं, तो यहाँ की संस्कृति, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, धार्मिक आस्था एवं लोक संस्कृति के स्वर हमें अद्भुत सामंजस्य के अन्तर्गत देखने-सुनने को मिलता है।

छत्तीसगढ़ पर बाह्य आक्रमण कम हुए परिणामत: यहाँ का सांस्कृतिक भू-भाग, प्राचीन एवं अर्वाचीन संस्कृति की विरासत को लिए हुए है। जब हम समग्र छत्तीसगढ़ इतिहास के पृष्ठों पर देखते हैं, तो हमें सिंघनपुर, कबरापहाड़, रायगढ़ अंचल के विश्वप्रसिद्ध शैल चित्रों की जानकारी मिलती है। सरगुजा अंचल में रामगिरि, सीता बेंगरा, एवं विश्वप्रसिद्ध प्राचीन नाट्यशाला यहाँ पर विद्यमान हैं। जनधारणा के अनुसार महाकवि कालीदास ने अपने प्रसिद्ध कृति मेघदूत की रचना इस अंचल में रहकर की, गुंजीर (ऋषभतीर्थ) शक्ति अंचल में सातवाहन कालीन अभिलेख मिलते हैं। पाली, संस्कृत आदि के अभिलेख जिसको डॉ. संतलाल कटारे ने पठनानवे बिल किया था। मल्हारा में देश की सबसे पुरानी विष्णु प्रतिमा है, किरारी गाँव काष्ठस्तंभ जो सरई लकड़ी का है, देश में प्रथम है। पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय ने छत्तीसगढ़ के अनेक पुरावशेषों की खोज की थी, जिसमें उनको काशी प्रसाद जायसवाल डॉ. व्ही.व्ही मिरासी, रायबहादुर हीरालाल प्रभृत उद्भट विद्वानों का सहयोग मिला था, जो इस अंचल के लिए गौरव का द्योतक है।

१९२० में छत्तीसगढ़ गौरव प्रचारक मंडली की स्थापना पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय ने बालपुर रायगढ़ अंचल में की थी, बाद में महाकोसल इतिहास समिति एवं महाकोसल इतिहास परिषद के नाम से जाना गया। १९३२ एवं १९३७ में महाकोसल हिस्टोरिकल सोसायटी पेपर्स के नाम से प्रकाशन हुआ था, बाद में बाबू प्यारे लाल गुप्त, डॉ. ध्यानेश्वर अवस्थी, जीवनराम जी कांबले ने इस संस्था की गतिविधियों को आगे बढ़ाया।

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक गौरव हमें यहाँ के पुरावशेषों में दृष्टिगत होता है, सिक्के, मृदभाण्ड, ताम्रपत्र एवं अन्य अभिलेख छत्तीसगढ़ के गौरवशाली इतिहास के साक्षी हैं।

छत्तीसगढ़ का स्वर्णयुग सिरपुर के महाशिवगुप्त बालार्जुन का कार्यकाल (५८५ से ६५०) कहा जाता है।

इसी समय चीनी यात्री ह्वेनसांग इस अंचल से गुजरा था। यह उस समय की बात है, जब उत्तर भारत में सम्राट हर्षवर्धन जैसे पराक्रमी योद्धा थे, पूर्वभारत में बंगाल में शशांक शक्तिशाली राजा था और दक्षिणभारत में पुलकेशिन द्वितीय शक्तिशाली शासक था, इन तीनों के मध्य दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) की अस्मिता को सिरपुर के राजा ने सुरक्षित रखा। राजमाता वासटा द्वारा निर्मित लक्ष्मण मन्दिर सिरपुर तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु इस काल में बौद्धविहार एवं मन्दिरों का निर्माण भी हुआ, जिसमें, शैव, शाक्य, वैष्णव की प्रमुखता थी।

अमरकण्टक दक्षिण कोसल में था, यहाँ पर आदि शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य निवास करते थे। कालान्तर में राजिम के पास चम्पारण में वल्लभाचार्य जी का जन्म स्थान माना जाता है। इस अंचल में संत कबीर के भी अनुयायी सर्वसमाज में हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गुरुघासीदास जी ने अपने विचारों के माध्यम से सामाजिक जागृति को प्रेरित किया, नारी सम्मान की रक्षा की, पशु-पक्षियों, प्राणियों को अहिंसा के माध्यम से उन पर होनेवाले व्यवहार को सद्भावना के परिप्रेक्ष्य में सार्वजनीन दृष्टि से प्रेरित किया।

छत्तीसगढ़ धान के कटोरा के साथ-ही-साथ शान्ति का टापू बना रहा और देश-दुनिया के लोग यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए। पुरावशेषों में छत्तीसगढ़ की गौरवमयी सांस्कृतिक झलक दृष्टिगत होती है।

सिमगा के कवि खंडेराव ने राधा विनोद कृति के माध्यम से तद्‌युगीन छत्तीसगढ़ की स्थिति का वर्णन किया है। रतनपुर के बाबू रेवाराम ने तवारिख ए हैहयवंशीय राजाओं को लिखकर छत्तीसगढ़ में इतिहास लेखन को प्रारम्भ किया। पं. शिवदत्त शास्त्री गौरहा ने छत्तीसगढ़ी में इतिहास लिखा। धमतरी के अध्यापक हीरालाल काव्योपाध्याय ने १८९० में छत्तीसगढ़ी बोली का व्याकरण लिखा, जिसे भाषाविद् ग्रियर्सन ने कलकत्ता के शोध पत्रिका में प्रकाशित करवाया।

भाषाविद् हरिनाथ डे देश-दुनिया में प्रसिद्ध थे, उन्हीं के घर 'डे भवन' बुढ़ापारा में १८७७-७९ के मध्य तरुण श्री नरेन्द्रनाथ दत्त यहाँ रहे। विश्व स्वामी विवेकानन्द के रूप में उन्हें जानता है।

पेण्ड्रारोड जैसे वनाच्छदित क्षेत्र से माधवराव सप्रे ने छत्तीसगढ़ मित्र मासिक पत्रिका के माध्यम से बौद्धिक जगत में चेतनात्मक क्रान्ति की। बिलासपुर डिस्टिक कौंसिल ने सन् १९२० से १९३० तक विकास पत्रिका के माध्यम से एवं रायपुर डिस्टिक कौंसिल ने उत्थान पत्रिका के माध्यम से स्वतन्त्रता आन्दोलन को चेतनात्मक गति दी। उसी समय महाकौसल समाचार पत्र निकला, बाद में अग्रदूत एवं अन्य सबसे इस अंचल में जागृति उत्पन्न हुई।

छत्तीसगढ़ में १८५७ की क्रांति के प्रथम शहीद सोनाखान के जमींदार क्रान्तिवीर नारायण सिंह से लेकर भूदान आन्दोलन के शहीद त्यागमूर्ति ठा. प्यारेलाल तक छत्तीसगढ़ में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पं. सुन्दरलाल शर्मा, पं. रविशंकर शुक्ल, डॉ. राधाबाई, महन्त लक्ष्मीनारायाण दास, बैरिस्टर छेदीलाल, ई. राघवेन्द्र रवि, पं. रत्नाकार झा, घनश्याम सिंह गुप्त, पं. रामदयाल तिवारी, बाबू छोटेलाल श्रीवास्तव एवं बस्तर के गुंडाधूर, लाल कालिन्द्र सिंह, रानी स्वर्ण कुंवर देवी ने जनता को जागृत किया।

छत्तीसगढ़ में अपने अनगिनत जनप्रिय नेताओं के नेतृत्व में सामाजिक संचेतना का जागरण हुआ। स्वातन्त्र संघर्ष के यज्ञ में यहाँ के लोगों ने भी आहुति दी। रायपुर षड़यंत्र केस (सूरकेस १९४२) ने जहाँ एक ओर सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा की वहीं दूसरी ओर इस अंचल के चौदह राज्यों ने भारत संघ में अपना विलय कर महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्र निर्माण की घड़ी में छत्तीसगढ़ अंचल सदैव राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। यहाँ पर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जागृति के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं, जो तरुणाई के सपनों को पूरा करने वाले युवा पीढ़ी के लिये प्रेरक हैं। ○○○

दूसरों के लिए रत्ती भर कार्य करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते-करते मर भी जाओ तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता होगी।

– स्वामी विवेकानन्द

सेवा पुरुषार्थ

स्वामी श्रीकरानन्द

सेवा और पुरुषार्थ विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए आध्यात्मिक जीवन और सेवा का सम्बन्ध जानना आवश्यक है। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों ने मानव-जीवन को उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिये एक जीवन-पद्धति का निर्धारण किया था, जिसमें चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के द्वारा जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास ऐसे चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थी अवस्था थी, जहाँ मनुष्य जीवनोपयोगी विभिन्न जागतिक विषयों के साथ-साथ धर्म का भी अध्ययन करता था। यह विचार एवं विवेक-शक्ति को जाग्रत करने का पुरुषार्थ था।

इसके पश्चात् मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। जीवन की इसी अवस्था में मनुष्य अर्थ रूपी पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीविका-अर्जन तथा सामाजिक जीवन का अभ्युदय एवं इस लोक के फलों का उपभोग करता था। इस प्रकार यह प्रवृत्ति का जीवन होता, जो धर्म के पंचमहायज्ञ रूपी नित्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्मों के द्वारा संयमित रहता। इस प्रकार जीवन के इस भाग में लौकिक विद्या एवं धर्म को व्यवहार में उतारने का पुरुषार्थ होता।

इसके पश्चात् जो समर्थ होते, वे कामरूपी पुरुषार्थ की चेष्टा करते। इस लोक के सुख उपभोग तो अर्थरूपी पुरुषार्थ में निहित ही थे, इसलिये लौकिक कामनाओं की पूर्ति काम पुरुषार्थ का अर्थ होना समीचीन प्रतीत नहीं होता है। वास्तव में काम पुरुषार्थ से ऋषियों का संकेत था काम्य-कर्म का सम्पादन। ये वे यज्ञादि कर्म थे, जिनके द्वारा व्यक्ति उच्च स्वर्गादि लोकों में सुख–उपभोग प्राप्त करने का पुण्य अर्जित करता था। इस प्रकार कार्य पुरुषार्थ इस जीवन का सुख भोग नहीं था, बल्कि मृत्यु उपरान्त स्वर्गादि के सुख-भोग पाने का आश्वासन था। शास्त्रों का यदि थोड़ी गहराई से अध्ययन करें, तो हम पाएँगे कि इन काम्य कर्मों के सम्पादन के लिये मनुष्य को इस लोक के सुख-भोगों को त्यागकर अत्यन्त कठोर तपस्यामय जीवन बिताना आवश्यक होता था। इस प्रकार इस पुरुषार्थ में प्रवृत्तिमुखी मन को निवृत्ति की ओर मोड़ने की ही चेष्टा दिखायी पड़ती है। यह सहज कार्य नहीं है। कुछ दृढ़ संकल्पवान समर्थ मनुष्य ही इसमें सफल होते। इसलिये कहा गया है – '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**', ऐसों में से कुछ लोग ही यथार्थ रूप से निवृत्तिपरायण हो पाते और लोक-परलोक में मिलनेवाले सुख-भोगों की अनित्यता एवं निस्सारता को समझकर उनसे वैराग्यवान हो पाते। यही '**इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विरागः**' अवस्था है। ये लोग ही मुमुक्षु कहलाते तथा जीवन में नि:श्रेयरूपी उस परमपुरुषार्थ के लिये चेष्टा करते।

वर्तमान युग में हम उस यथार्थ वैदिक संस्कृति को भूल गए हैं, इसीलिये मन को निवृत्तिमुखी करने की मानवीय चेष्टा के रूप में काम पुरुषार्थ को समझने के बदले उसे और तीव्र प्रवृतिप्रेरक मान बैठे हैं। इस प्रकार की भूल धारणा को लेकर कैसे सम्भव है कि मनुष्य मोक्ष पुरुषार्थ के लिये प्रस्तुत हो सके।

युगावतार श्रीरामकृष्ण देव ने इस युग के अनुकूल हमारे सामने विकल्प के रूप में सेवा का पुरुषार्थ रखा है। किन्तु यह साधारण सेवा नहीं है, यह है 'शिव ज्ञान से जीव सेवा'। अर्थात् सेवा करनेवाले के मन में सर्वदा यह भाव बना रहे कि शिवत्व की अनुभूति प्राप्त करना ही इस सेवा का लक्ष्य है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे और अधिक रूप से व्यक्त किया है। '**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**' – स्वयं की मुक्ति एवं जगत के हित के लिये।

इस सेवा पुरुषार्थ के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू हैं–

१. काम्य कर्म के पीछे मीमांसक लोग कर्म का सिद्धान्त मानते थे, जिसमें ईश्वर की अवधारणा की आवश्यकता नहीं थी, न ही वेदान्ती इसे ज्ञानपथ का सहायक मानते थे। जबकि सेवा पुरुषार्थ में सभी योगों के लिए स्थान है, पर भक्ति उन सब में अनुस्यूत है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि इस युग के लिए नारदीय भक्ति सबसे सहज पथ है।

२. काम्य कर्म के सम्पादन का अधिकार उच्चवर्ण के सम्पन्न लोगों तक ही सीमित था, जबकि सेवा का अधिकार सबको है।

३. वानप्रस्थाश्रम में वानप्रस्थी लोग मानसिक यज्ञ किया करते थे, जिसमें यथार्थ द्रव्य के स्थान पर काल्पनिक द्रव्यों की आहुति दिया करते थे। फल की चाह के पीछे स्वयं के भीतर सुप्त रूप से निहित भोग-लिप्सा को पहचानने की यह प्रक्रिया थी। निरन्तर अभ्यास से जब मनुष्य उन सूक्ष्म वासनाओं को भी त्याग करने में सफल हो पाता, तभी वह ठीक-ठीक संन्यास आश्रम के उपयुक्त होता और परम-पुरुषार्थ मोक्ष की चेष्टा करता। इसी प्रकार सेवा करने वाले के मन में किसी प्रकार के भौतिक लाभ पाने की इच्छा भले ही न हो, किन्तु नाम, यश, अधिकार, सुविधा आदि पाने की सूक्ष्म वासनाएँ हो सकती हैं। ऐसी मानसिक अवस्था होने पर इसे वानप्रस्थाश्रम के समकक्ष मान सकते हैं। जब ये सूक्ष्म वासनाएँ भी मिट जाएँ, एकमात्र ईश्वर की सेवा का भाव ही बना रहे, तब वह ठीक-ठीक संन्यासाश्रम की अवस्था होगी और शिवत्व लाभ के रूप में मोक्षरूपी पुरुषार्थ करने का अधिकारी बनाएगी।

४. एकमात्र 'शिवज्ञान से जीवसेवा' की भावना ही मनुष्य को सब प्रकार के संकीर्ण साम्प्रदायिक कट्टरताओं से ऊपर उठाकर उदात्त विश्वबन्धुत्व के भाव में प्रतिष्ठित कर सकती है। वैसे प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में सेवा की भावना देखी जाती है, पर वह उस सम्प्रदाय के अनुयायियों तक ही सीमित रहती है। दूसरों के प्रति या तो उपेक्षा का भाव होता है अथवा दया का, जो तनिक सी विपरीत उत्तेजना से कटु घृणा में परिणत हो जाती है। इस सीमित संकीर्ण भाव का विश्वजनीन उदात्तीकरण तभी हो सकता है, जब मनुष्य के भीतर यह विश्वास बैठ जाय कि वही चैतन्य, शिवत्व जो मेरा इष्ट है, वही सभी जीवों में विद्यमान है। श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन में इसी सत्य की अनुभूति की थी और 'शिवज्ञान से जीवसेवा' से उनका यही अभिप्राय था।

५. प्राय: सेवा और व्यापार के कार्य एक जैसे दिखायी पड़ते हैं। अन्तर केवल कार्य करनेवाले के मनोभाव में है। सेवा निवृत्तिपरक है और वही व्यापार प्रवत्तिपरक है। यदि कर्ता के मन में प्रवृत्ति हो तो, वही कार्य व्यापार हो जाता है और निवृत्ति हो तो सेवा । व्यक्तिगत जीवन में या सेवाश्रमों में आध्यात्मिकता बनी रहे, इसके लिये कार्य में सेवा का स्वरूप बनाये रखना आवश्यक है और यह सम्बन्धित व्यक्तियों के सर्वदा सजग एवं सचेष्ट रहने से ही सम्भव है।

६. मन्दिर में ईश्वर की चैतन्य सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान श्रीविग्रह को देखकर लोगों को स्वयं की चैतन्य-स्वरूपता की प्रेरणा मिलनी चाहिए। 'शिवज्ञान से जीवसेवा' भाव से जैसे-जैसे चैतन्य का चिन्तन मुख्य होता जाएगा वैसे-वैसे सेवा के साथ-साथ सेवक स्वयं को भी शिव स्वरूप अनुभव करने लगेगा, उसी को स्वामी विवेकानन्द ने 'आत्मनोमोक्षार्थं' कहा है।

७. सेवा का स्वरूप कैसा हो? – सेवा जगत्‌हिताय हो। जगत का हित जिस कार्य से हो, वह सेवा है। इसमें जगत् जुड़ा है और जगत स्थान एवं समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसलिए सेवा का स्वरूप सेव्य, अर्थात् सेवा करनेवाले के पास उपलब्ध साधन तथा सेवक के उत्साह और शक्ति पर निर्भर करता है।

८. संसार की दृष्टि कार्य की विशालता एवं बाह्य प्रदर्शन पर रहती है और आध्यात्मिता की माँग है पवित्रता एवं शान्ति। सेवा मानो इन दोनों के बीच का समन्वय-रूप है, जिसे देखकर अनजान व्यक्ति भी सेवा के पीछे निहित नि:स्वार्थ भाव को देखकर अभिभूत हो उठे। ○○○

समस्त उपासनाओं का यही धर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेदभाव के यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।...क्या तुम अपने भाई – मनुष्य जाति को प्रेम करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूढ़ने चले हो – ये सब गरीब, दुःखी, दुर्बल मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा तट पर कुँआ खोदने क्यों जाते हो?

– स्वामी विवेकानन्द

चिड़ियाघर में पांडुरंग

पांडुरंग मद्रास के छोटे से गाँव में रहता था। वह बहुत साहसी और बुद्धिमान था। हमेशा सत्य बोलता था और बिना विचारे कुछ भी स्वीकार नहीं करता था। एक दिन शाम के समय पांडुरंग घर बैठकर पढ़ाई कर रहा था। अचानक हवा का झोंका आया और दीपक बुझ गया। अँधेरे में उसे लगा कि घर के भीतर कोई प्रवेश कर रहा है। वह चिल्ला उठा, ''कौन? कमरे के भीतर कौन है?'' – ''मैं हूँ।'' पांडुरंग – ''कौन मैं?'' – ''अरें, मैं हूँ, मैं।'' पांडुरंग – ''चोर भी तो अपने को 'मैं' ही बोलता है।'' उत्तर – ''अरे पांडु, मैं हूँ – तेरा मामा।'

स्कूल-कॉलेज में पढ़ते समय पांडुरंग की खेलकूद में भी रुचि थी। वह हमेशा नए-नए खेलों का आविष्कार करता और अपने मित्रों के साथ आनन्द मनाता। एक बार वह अपने मित्रों के साथ चिड़ियाघर देखने गया। वहाँ वे लोग विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों को देखते हुए जा रहे थे। एक पिंजरे में उन्होंने चिम्पांजी को देखा। पांडुरंग ने सोचा कि इसके साथ थोड़ा आनन्द लिया जाए। पांडुरंग के हाथ में एक लाठी थी। उसका एक सिरा उसने पिंजरे में घुसाकर चिम्पाजी की ओर बढ़ाया। चिम्पांजी दोनों हाथों से लाठी को पकड़कर अपनी ओर खींचने लगा। पांडुरंग भी अपने मित्रों के साथ लाठी का दूसरा सिरा इधर की ओर खींचने लगा। उधर चिम्पांजी भी अपनी पूरी ताकत लगाकर खींच रहा था। दोनों ओर खींचतान चल रही थी। थोड़ी देर बाद पांडुरंग ने अपने मित्रों को लाठी छोड़ने का इशारा किया। चिम्पांजी धड़ाम से पिंजरे के भीतर पलटी खाकर गिर गया। सभी जोरों से हँसते हुए आगे बढ़ गए। चिम्पांजी भौचक्का होकर वहीं बैठा रहा। पांडुरंग अपने मित्रों के साथ कुछ दूर एक टीले पर खड़े हो गए और हँसते हुए चिम्पांजी की तरफ देखने लगे।

थोड़ी देर बाद लड़कों की एक और टोली घूमते हुए चिम्पांजी के पिंजरे के सामने खड़ी हो गई। वे चिम्पांजी की ओर देखते हुए हँसने लगे। चिम्पांजी ने अपने हाथ की लाठी का एक सिरा उन लड़कों की ओर बढ़ाया। लड़के खूब जोरों से लाठी को पकड़कर खींचने लगे। इधर चिम्पांजी भी जोर लगाकर खींच रहा था। अचानक चिम्पांजी ने लाठी छोड़ दी और सभी लड़के धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। चिम्पांजी दाँत निकालकर खूब हँसने लगा। बेचारे लड़के हक्के-बक्के रह गए। वे लज्जित होकर धरती से उठे और चुपचाप वहाँ से खिसक गए। पांडुरंग की टोली भी टीले के ऊपर से यह दृश्य देखकर हँसने लगी। ○○○

बच्चों का आंगन

बच्चे होते भोले-भाले

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

बच्चे होते भोले-भाले।
गोरे हों अथवा हों काले।
क्षण में मन को हर लेते हैं,
हृदय प्रेम से भर देते हैं।

ये रहते हैं सदा निराले,
ऊँचा लक्ष्य बनाने वाले,
रचने और मिटाने वाले ।।
बच्चे होते भोले-भाले ।।

क्षण में रोते क्षण मे हँसते,
हर पल इनके भाव बदलते।
क्षण में राजा बन जाते हैं,
अन्यायों पर तन जाते हैं ।।

बड़े सुकोमल बड़े लचीले,
मन के धनी बड़े गर्वीले ।।
आँखों में लगवाकर काजल,
लगते कितने पावन निर्मल ।।

लगते कितने शोभावाले ।।
बच्चे होते भोले-भाले ।।

युवकों की जिज्ञासा और उसका समाधान

स्वामी सत्यरूपानन्द

२३. मौन से क्या लाभ होता है?

उत्तर – अधिकांश बार हमें या तो ज्ञान नहीं होता अथवा उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता कि बोलने में भी पर्याप्त शक्ति लगती है। बोलना मनुष्य के लिए श्वास-प्रश्वास की तरह स्वाभाविक प्रक्रिया है, किन्तु श्वास-प्रश्वास पर हमारा अधिकार नहीं होता। बोलने-न-बोलने पर हमारा पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु अभ्यास नहीं होने के कारण हम लोग बहुत सी बातें अनर्गल तथा अनावश्यक बोलते रहते हैं, जिससे हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। उतना ही नहीं, अपितु बातचीत से कभी-कभी मित्रता भी छूट जाती है। शक्ति-संचय करने के लिए कम बोलना परम आवश्यक है। जब आवश्यकता हो, तो अवश्य बोलें, किन्तु बोलने के पूर्व यह ध्यान रखें कि जो हम बोल रहे हैं, उसे हमने बोलने के पहले समझ लिया है क्या? क्या परिणाम न जानने के कारण अनेक बार हम लोग अनावश्यक तथा निरर्थक बातें ही अधिक करते हैं। अपनी वाक्शक्ति को नष्ट होने से बचाने के लिए हमें मौन का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। मौन अपने आप में एक अत्यन्त श्रेष्ठ गुण है, इसलिए हम अधिक-से-अधिक सुनने का तथा कम-से-कम बोलने का अभ्यास करें। इससे हमारी बहुत बोलने की आदत अपने आप चली जाएगी तथा वाक् शक्ति का अपव्यय बच जाएगा।

रुको न साथियों झुको न साथियों

कृष्णचन्द्र टवाणी, किशनगढ़, राजस्थान

रुको न साथियों झुको न साथियों,
बढ़े चलो बढ़े चलो, पुनीत लक्ष्य दूर है ।।
अभी अनेक रूढ़ियाँ अवरूद्ध पथ किये खड़ी ।
अभी जड़ें कुरीतियों की है पाताल तक गड़ी ।
अभी महेश का फला वर शिवम् न कर सके ।
अभी रोग-ऊँच नीच का धरा से हर सके ।
अभी सिसक रहा कहीं माँग का सिन्दूर है ।।
रुको न साथियों ....
अभी न सत्य हो सकी राम-राज्य की कथा ।
जिन्दगी के साथ में अभी जुड़ी हुई व्यथा ।
अश्रु भरे लोचनों में आज तक भी प्यास है ।
हिमाद्रि पर चढ़ा परन्तु आदमी उदास है ।
देश में लंकेश वैभव के नशे में चूर है ।।
रुको न साथियों ...
चाँद-सी रोटी अभी तक हाथ में न आ सकी ।
अभी बसन्त दूर है खुशी न झूम गा सकी ।
अभी मोह सर्प न तजा न विष को छोड़ना ।
भावनाओं का शिशु न सीख पाया दौड़ना ।
अभी जाति के इन्द्र-धनुष में रंग नहीं भरपूर है ।
बढ़े चलो बढ़े चलो पुनीत लक्ष्य दूर है ।।
रुको न साथियों ...

आत्मसम्मान की भावना

स्वामी विवेकानन्द के विदेश गमन के पूर्व की एक घटना है। आबूरोड स्टेशन पर स्वामीजी गाड़ी में बैठे हैं। गाड़ी चलने में अभी देर है। उनके एक अनुयायी गाड़ी के डिब्बे में साथ बैठकर उनसे बात कर रहे हैं। उसी समय एक अंग्रेज टिकट-परीक्षक ने उन सज्जन को गाड़ी से उतर जाने के लिए कहा। वे सज्जन भी रेल कर्मचारी ही थे। अंग्रेज को उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की कि उन्होंने नियम के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया है। अंग्रेज ने उनकी बात पर ध्यान ही नहीं दिया। फलस्वरूप दोनों में तर्क-विर्तक होने लगा। जब झगड़ा बढ़ता ही गया, तब स्वामीजी ने मध्यस्थता करने की चेष्टा की। अंग्रेज ने स्वामीजी को सामान्य संन्यासी समझा। इसलिए उन्हें धमकाते हुए कहा, "तुम क्यों बात करता है?" इस बार स्वामीजी गरज उठे, " 'तुम' क्यों कहते हो? क्या ठीक से व्यवहार करना भी नहीं जानते? प्रथम दर्जे और द्वितीय दर्जे के यात्रियों की आप देखभाल करते हैं और लोगों के साथ कैसे व्यवहार किया जाता है, यह भी नहीं जानते। 'आप' क्यों नहीं कहते?" अन्य कोई उपाय न देखकर अंग्रेज ने इस बार अंग्रेजी में कहा, "मैं दु:खित हूँ। मैं इस भाषा को भली प्रकार नहीं जानता। मैं केवल इस आदमी को..." स्वामीजी को और सहन नहीं हुआ। बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि वे तीव्र स्वर में बोल पड़े, "आपने यह कहा कि आप हिन्दी भाषा को अच्छी तरह नहीं जानते। मैं देखता हूँ कि आप अपनी भाषा भी ठीक से नहीं जानते। आदमी किसे कह रहे हैं? वे एक सज्जन व्यक्ति हैं? भयभीत होकर वह अंग्रेज चुपचाप वहाँ से चला गया। उसके चले जाने पर स्वामीजी ने अपने सहयोगी से कहा, 'यूरोपियनों के साथ व्यवहार करते समय हमें किस वस्तु की आवश्यकता है, देखा ! वह है अपने आत्मसम्मान की भावना।...दूसरों के समक्ष हमें अपनी गरिमा बनाए रखनी चाहिए।' ○○○

काव्य-लहरी

दान माहात्म्य दोहावली

डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद

कलियुग में तप यज्ञ या हो न सकेगा ध्यान।
राम नाम हरि कीर्तन से ही होगा कल्याण ।।१।।
शोभा बढ़ती हाथ की जो करते हैं दान।
कंगन बाजू बन्द से बढ़े न कर का मान ।।२।।
करते जो हरि नाम जप या करते जो दान।
लोभ, मोह, मद, गर्व का होता है अवसान ।।
देश, काल और पात्र का, कर विचार दे दान।
प्रतिफल की आशा बिना वही सात्विक दान ।।४।।
मनुज योनि में सहज है ईश नाम जप, दान।
किन्तु दान का कभी मत कीजै गर्व, बखान ।।५।।
कबनेहु विधि हरि नाम जप, सदा करै कल्यान।
कलि में सब विधि होत है, सदा कीजिए दान ।।६।।
परहित पर उपकार सत्व है कहते वेद पुरान।
हरि नाम संकीर्तन, सदा कीजिये दान ।।७।।

प्यार से मुस्कुराओ जिन्दगी आसान है

निशा गेरा, जनकपुरी, नई दिल्ली

ज्ञान लेना और देना तो आसान है।
जो करे जीवन में धारण वही देव समान है।
जो चलता ज्ञान दिशा में वही तो महान है।
रहती उसके लबों पर हमेशा ही मुसकान है।
नहीं समझता जो ज्ञान को वही तो परेशान है।
जिन्दगी तो परिस्थितियों से भरा तूफान है।
तूफान जो उपहार समझे वह जीतता जहान है।
जब स्वाभिमान की अन्दर निरन्तर गूँजती तान है।
विषय सागर को पार करना तभी ही आसान है।
अन्दर है करुणा का गुण तभी तू इंसान है।
नहीं तो विकारों से भरा केवल तू हैवान है।
जिन्दगी ईश्वर का दिया हुआ वरदान है।
प्यार से मुसकुरा दिया कर जिन्दगी आसान है।

(साभार - ज्ञानामृत दिसम्बर, २०१४ अंक से)

ममता का सागर

कु. नर्मदा, पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर

माँ ममता का सागर तू प्रेम का अम्बार है।
निश्छल अविरल बहती तुझमें प्रेमसुधा रसधार है ।।
तेरे ममता के आगे कुबेर - धन बेकार है।
गागर में सागर भरनेवाली देवी का अवतार है ।।
तेरी ममता से माँ जड़ भी चेतन हो जाते हैं।
तेरी गोद में माँ मेरी हम अपार शान्ति पाते हैं ।।
जग में सब प्राणी बसते, तू प्राणियों का संसार है।
तू नित नवीन करती रहती स्नेह का चमत्कार है ।।
तेरी महिमा कहने में वाणी निःशब्द लाचार है।
एक शब्द में कहूँ, तो तू विश्वप्रेम व्यापार है।
हर शब्द में तू, तुझमें ही शब्दकोष भण्डार है ।।
माँ ममता का सागर तू प्रेम का अंबार है।

मानव में भगवान

नरेन्द्र मोहन स्वर्णकार 'मित्र', जालौन

विश्वबन्धु सम्मान के, सन्त रूप हैं आप।
आत्मतत्त्व के भाव से, दूर किया सन्ताप ।।
शून्य शक्ति के भाव में, दिव्य रूप आनन्द।
मानव के परमार्थ में, पूरन परमानन्द ।।
बनकर जिए प्रसूनवत, सुरभित किया समाज।
'कल' को स्वर्णिम पथ दिया, स्वागत करता 'आज'
प्रेरणाओं से शाश्वत, युग को दिया प्रमान।
धन्य आपका भाव है, धन्य आपका ज्ञान ।।
आत्मा के सौन्दर्य से, बने शान्ति के दूत।
भारत माँ के पूत सब, माँ के आप सपूत ।।
निज विवेक आनन्द से, बने विवेकानन्द।
सु-मन सुमन से भर दिया, सुमनों में मकरन्द ।।
संस्कार संस्कृति हृदय, चक्षु ज्ञान विज्ञान,
देख सके वो देख ले, मानव में भगवान ।।
अमृत-घट हमको मिला, हम अमृत के लाल।
अपने श्रम सौभाग्य से हम हैं मालामाल ।।
सोच सदा ऊँचा रखें, रखें सदा सद्भाव।
चिन्तन और सुभाव से बनता श्रेष्ठ स्वभाव ।।
तू भारत का लाल है, कभी न छोटा मान।
जाग-जागकर देख ले, अपना सुयश महान ।।
भारत को यदि जानना, पढ़ो विवेकानन्द।
सामाजिक अपराध सब, मिट जायेगें द्वन्द ।।
रुको नहीं बढ़ते रहो, लक्ष्य नहीं फिर दूर।
भाग्य तुम्हारे हाथ है, क्यों होता मजबूर ।।

वेद – जैसा मैने पाया

डॉ. प्रणव कुमार बनर्जी, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

स्वामी विवेकानन्द ने कहा – 'हिन्दू होने का गर्व करो। तुम उन महान ऋषियों की सन्तान हो, जो संसार में अद्वितीय रहे हैं। संसार की किसी भी भाषा में 'हिन्दू' शब्द से श्रेष्ठ किसी शब्द का आज तक आविष्कार नहीं हुआ।' वेदों को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि वास्तव में हिन्दू होने का गर्व करना ही चाहिए। क्योंकि वेदों के ऋषियों ने वैचारिक जगत को जो ऊँचाइयाँ दी हैं, वह संसार में अद्वितीय है। उनके समानान्तर कोई दूसरा विचार आज तक उत्पन्न ही नहीं हो सका है। मैं संस्कृत नहीं जानता हूँ। सायण भाष्य के हिन्दी अनुवाद के अनुसार मैंने अपनी धारणा बनायी।

१८३५ में लार्ड मेकाले ने प्रस्ताव रखा था कि संस्कृत भाषा और ब्राह्मण बौद्धिकता (वेदानुशासन) उपनिवेश के सबसे बड़े शत्रु हैं, इन्हें समाप्त किया जाना चाहिए। इस नीति के दुष्परिणाम में संस्कृत शिक्षा के अभाव के कारण ब्राह्मण-पुत्र होते हुए भी मैं संस्कृतज्ञ नहीं हो सका। जन्म के पहले व्यक्ति कहाँ रहता है अथवा मरने के बाद कहाँ जाता है? जन्म-तिथि की प्रत्यक्ष जानकारी किसी को क्यों नहीं होती? माता-पिता बतलाते हैं तो ही क्यों जानकारी हो पाती है? कब कैसे मरेंगे, कोई क्यों नहीं जानता? अतीत, वर्तमान या भविष्य, आदमी की मुट्ठी में क्यों नहीं होता? हमारा मनोभाव सामने वाला क्यों नहीं जान पाता और सामने वाले का मनोभाव हम क्यों नहीं जान पाते? आखिर इस अनिश्चतता के भीतर से जीवन का सतत प्रवाह जो संसार को आच्छादित किये हुए है, उसका नियन्त्रण कौन करता है? हजारों ग्रह-नक्षत्र अकल्पनीय भार के साथ बिना स्तम्भ के आकाश में लटके हुए हैं और सृष्टि-चक्र में अपना-अपना योगदान कर रहे हैं। यह कैसे सम्भव होता है? यदि मध्याकर्षण शक्ति से यह सम्भव होता है, तो इस शक्ति का उद्गम स्थल कौन-सा है? सुनीता विलियम ने अन्तरिक्ष में सोलह सूर्य देखे। इनका स्त्रष्टा कौन है?

वेदों की घोषणा है कि एक अनादि अनन्त अविनाशी, अरूप शक्ति है, जो चराचर का नियमन करती है अथवा इसकी अधीश्वरी है। इसे 'परब्रह्म' शब्द से सम्बोधित किया गया। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा – जीभ से जिसका स्पर्श हो वह 'जूठा' होता है। परब्रह्म का स्वरूप जूठा नहीं हो सकता। इसीलिये वेद भी उनके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ रहे हैं।' परन्तु वेदों ने जो कुछ कहा है वह असाधारण है।

सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् ।
स भूमि विश्वतोवृत्वा अत्यत्ष्ठित् दशाङ्गुलम् ।।

(ऋग्वेद एवं सामवेद में समान रूप से यह मन्त्र है।) इसका अर्थ - परब्रह्म के हजारों (अनन्त) सिर हैं, हजारों (अनन्त) आखें हैं, हजारों (अनन्त) पैर हैं। उसको लांघना सम्भव नहीं है। (जैसे हम सूर्य की किरणों को किसी तरह भी नहीं लांघ सकते, वैसे ही इस परब्रह्म का भी अतिक्रमण नहीं कर सकते) दृश्यमान और अदृश्यमान जगत ही उसका शरीर है। चराचर को घेरकर वह हृदय में नाभि कमल से दस अंगुल ऊपर अंगुष्ठ प्रमाण में प्रकाश पुंज के रूप में विद्यमान है। श्वेताश्वतरोपनिषद में भी यह मन्त्र है।

इस मन्त्रार्थ से सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं एक जीवन्त मन्दिर है, अथवा बहु रूपों में अभिव्यक्त परमेश्वर का यह जगत एक व्यक्त रूप है एवं एक लीला क्षेत्र है। इस मन्त्र का एक अर्थ यह भी है कि वेदों ने मनुष्य को ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित कर दिया। ऐसा भाव अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। यही ऋषियों की सर्वश्रेष्ठता है। जीव में शिव मानकर उनकी सेवा करने की बात में यही तत्त्व है। परन्तु शरीर की रचना इस तरह क्यों की गयी कि आँखें बाहर देख सकती हैं, शरीर के भीतर नहीं? क्या भीतर झाँकना सम्भव नहीं है? वेदों का उत्तर सकारात्मक है। भीतर झाँका जा सकता है, यह झाँकना ही आत्मदर्शन है।

मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सफलता वेदानुसार इसी 'आत्मदर्शन' में निहित है। 'आत्मदर्शन' की स्थिति तब बनती है, जब आस्तिकता के साथ व्यक्ति ब्रह्मचर्य, नियम, संयम से रहते हुए भक्ति-पूजा-व्रत-उपवास, पुण्य-स्नान, तीर्थ-सेवन आदि के साथ-साथ निष्काम (ईश्वरार्पित) कर्म आदि से अपना परिमार्जन पूर्ण कर लेता है, तब एक दृष्टि प्राप्ति होती है – आत्मदर्शन सुलभ होता है। यह आत्मदर्शन एक जन्म में प्राप्त न हो सकने पर भी आगामी

जन्मों में प्राप्त होना सम्भव है। तदनुसार, वेदों की वाणी अनन्त आशाओं का प्रतिनिधित्व करती है। इस आशावाद के साथ ही सम्पूर्ण भारत सनातन काल से जीवित है। इसी कारण भारत सनातन काल से एक वैदिक राष्ट्र है।

ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है – **'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्'।।** अर्थात् ''यज्ञ के पुरोहित दीप्तिमान, देवों को बुलाने वाले ऋत्विक और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।''

अग्नि देवताओं के बीच सहज रूप में गमनागमन करते हैं, तभी अग्नि में आहुति दी जाती है, ताकि वह आहुति सरलता से देवताओं तक पहुँच जाय। यह कैसे?

अग्नि अर्थात् ऊर्जा या एनर्जी। जल-थल-नभ-वायु सब जगह यह अग्नि समान रूप में उपस्थित है। तभी पत्थर घिसने से चिन्गारी निकलती है। जल से बिजली उत्पन्न हो पाती है अथवा चन्द सेकेंडो में दूर-दूराज में मोबाइल से बात हो जाती है। यह अग्नि शरीर के भीतर भी है। तभी जठराग्नि से चयापचय की क्रिया सम्पन्न हो पाती है, क्रोधाग्नि से विनाश हो जाता है और कामाग्नि से प्रजा का उत्पादन सम्भव होता है। इस अग्नि के कारण ही चिकित्सा विज्ञान ई.सी.जी. सहित नाना प्रकार की जाँच पड़ताल कर पाता है। शरीर के अग्नि को व्यवस्थित कर सकने पर ही आत्मदर्शन की ओर बढ़ना सम्भव है। तभी अग्नि की प्रसन्नता के साथ अन्य देवताओं के लिए आहुतियों की व्यवस्था है।

केनोपनिषद की कथा है – देवताओं के राजा इन्द्र, वायु और अग्नि एक साथ खड़े थे। तभी सामने आकाश में एक दिव्य यक्ष प्रकट हुए। इन्द्र ने अग्नि से कहा – 'पता करो यह कौन है?' अग्नि पता करने पहुँचे, तो यक्ष ने पूछा – 'तुम कौन हो' ! अग्नि ने कहा – 'मैं अग्नि हूँ'। क्षण भर में सब कुछ जलाकर राख कर सकता हूँ।' यक्ष ने एक तिनका देकर कहा – 'इसे जलाकर दिखाओ।' अग्नि ने पूरी शक्ति लगायी, पर वह तिनका न जला। लज्जित होकर अग्नि लौट गया। तब इन्द्र ने वायु को भेजा। वायु ने अपना परिचय देते हुए कहा 'मैं क्षण भर में सब कुछ उड़ा सकता हूँ।' यक्ष ने उसके सामने भी तिनका रखा। वायु उसे उड़ाने में असमर्थ होकर लौट गया। तब यक्ष का परिचय प्राप्त करने स्वयं इन्द्र आगे बढ़े। परन्तु उनके आगे बढ़ते ही यक्ष गायब हो गए और सहसा उस स्थान पर भगवती उमा प्रकट हो गयीं। इन्द्र ने उन्हें प्रणाम करते हुए पूछा – 'माँ, ये यक्ष कौन थे?' भगवती ने उत्तर देते हुए कहा – 'ये परब्रह्म थे, जिनकी शक्ति से तुम लोग शक्तिशाली हो।'

परब्रह्म की सत्ता ही सब कुछ है। यही अन्तिम सत्य वेदों द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित हुआ है। इसी की सम्प्राप्ति में वेदों का यज्ञादि अनुष्ठान है। अग्नि, वायु से भी परे जो शक्ति है वही व्यक्ति के अन्तरतम में उपस्थित रहती है। आत्मदर्शन से उसी शक्ति के सामीप्य का अवसर प्राप्त होता है। इस उपलब्धि के लिये वेदों ने किसी जाति, धर्म की बाधा स्वीकृत नहीं की। वेदों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिसके हृदय में साक्षात् परमेश्वर विद्यमान है, आत्मदर्शन प्राप्त कर सकता है। यजुर्वेद में कहा गया – 'हे अग्ने ! ब्राह्मणों में दीप्ति धारण करो, राजाओं में तेज धारण करो। वैश्य-शूद्रों में तेज धारण करो। सबके लिए समान प्रार्थना ! केवल ब्रह्मचर्य, नियम, संयम आदि के साथ-साथ शुद्धता से कर्म-सम्पादन की आवश्यकता है, ताकि परिमार्जित दृष्टि प्राप्त की जा सके। वैदिक विचारों के अनुसार जातियों की भिन्नता परब्रह्म द्वारा स्वयं के विभाजन का परिणाम है। ब्राह्मण सृष्टि-कर्ता के मुख से, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और चरणों से शूद्र (या श्रमिक वर्ग) उत्पन्न हुए। यदि सिर कट जाय या दोनों भुजाएँ न रहें अथवा जंघा, हाथ, पैर कट जाय तो क्या होगा? एक-दूसरे का विरोध नहीं, सबमें सामंजस्य रहना चाहिए। 'कुम्भ' जैसे पुण्य स्नान में परमेश्वर के प्रति गहन आस्था के साथ एक जल में सब जातियों के एक साथ डुबकी लगाने का विधान है। आपसी सामंजस्य पुष्ट करना ही सबसे बड़ा उद्देश्य है। गीता वेदों के विचारों का निचोड़ माना जाता है। साक्षात् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से युद्ध त्यागने की बात नहीं की। ईश्वर को कर्म समर्पित करने की ही सलाह दी। ऐसा कर्म करते हुए ही आत्मदर्शन की साधना करना सबसे सहज-सरल मार्ग है। 'राष्ट्रार्पित कर्म को' ईश्वरार्पित कर्म के समानान्तर रखा जा सकता है। क्योंकि भारत भूमि साक्षात् जगदम्बा-स्वरूप है। उसकी कोख में ही भगवान ने बार-बार जन्म लिया। अत: कर्मों का प्रथम उत्सर्ग उसी के नाम करना चाहिए।

वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। फिर भी अथर्ववेद का अपनी जगह महत्व

है। 'अमृत' जल से उत्पन्न हुआ था। उसका स्पर्शधन्य जल, अथर्ववेद के अनुसार सर्वोत्कृष्ट औषधि है। यजुर्वेद भी यह मानता है कि जल में अमृत है, जलों में भैषज्य भी है। तभी प्यास से मरते आदमी को जल तुरन्त जीवन दान देता है। पलाश जैसे अनेक वृक्षों के औषधीय गुणों का भी उल्लेख अथर्ववेद में है। आयुर्वेद का पुनरुद्धार चाहने वालों को अथर्ववेद का अनुशीलन करना चाहिए। मूत्ररोग हो जाने पर अथर्ववेद लौह शलाका का प्रयोग करने की सलाह देता है। यह आज का मेटलकैथिटर का प्रयोग है। भंगर्रा हल्दी इन्द्रासन एवं नील के पौधे को पीस कर सूखे गोबर के साथ लगाने पर श्वेत कुष्ठ दूर होता है, ऐसा भी उल्लेख मिलता है ।

वेदों में प्रार्थना

सभी वेद यज्ञ काल की प्रार्थनाओं से भरे पड़े हैं। यजुर्वेद में राजसूय, अश्वमेध आदि की प्रक्रियाओं तथा आहुतियों का वर्णन है। इसमें बलिदान प्रक्रियाएँ भी बतलायी गयी हैं।

परमात्मतत्त्व की उपलब्धि के लिये ऋग्वेद की यात्रा सामवेद में पूर्ण विकसित होती है। ऋग्वेद अपनी प्रथम ऋचा से ही अनेकानेक अर्थपूर्ण प्रार्थनाएँ समर्पित करता है। जैसे –

यज्ञ के पुरोहित, दीप्तिमान, देवों को बुलाने वाले ऋत्विक और अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ (प्रथम मन्त्र) । प्राचीन ऋषियों ने जिसकी स्तुति की, आधुनिक मनीषी (वैज्ञानिक) जिसकी स्तुति करते हैं, वह अग्नि देवों को इस यज्ञ में बुलावें (द्वितीय मन्त्र) ।

जिस प्रकार पुत्र पिता को आसानी से पा जाता है, उसी प्रकार हम भी तुम्हें अनायास प्राप्त कर सकें और हमारे मंगल हेतु तुम हमारे पास निवास करो (नवम मंत्र)... आदि अनेकों प्रार्थनाएँ हैं।

यजुर्वेद में अग्नि से एक महत्त्वपूर्ण प्रार्थना है – 'हे अग्ने, हमें सन्मार्ग से धन प्राप्त करने की ओर ले चलो।' किन्तु दुर्भाग्यवश आज इसे कोई नहीं चाहता है। इसीलिये आज इतनी दुर्गति हो रही है।

अग्नि के साथ-साथ वायु, वरुण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, उषा आदि के लिये भी समान रूप से प्रार्थनाएँ हैं। प्रार्थनाओं में उन सभी देवताओं से सोम-पान के लिये भी आग्रह है। साथ ही विशेष रूप से याचना की गई कि हमें धन दो, दरिद्रता से बचाओ, गौ दो, पाप से बचाओ, युद्ध में विजय हो, आदि। सामवेद में इन्द्र के लिये विशेष प्रार्थना है –"हे इन्द्र ! हमारे आयुधों को उत्तम हर्षयुक्त करो। हमारे सैनिकों के मनों को हर्षयुक्त करो। हमारे पास जो बाण है, वह शत्रुओं को जीते। हमारे वीर सबसे ऊपर हों।"

प्रार्थनाओं में बहु आयामी अर्थों की कूटभाषा का प्रयोग किया गया है ऐसा मेरा निष्कर्ष है।

वास्तविक धन क्या है?

धन का अर्थ क्या है? क्या रुपया-पैसा, जमीन-सम्पत्ति आदि को ही केवल धन माना जाना चाहिए? विशेष अर्थ में इसका उत्तर केवल 'नहीं' ही हो सकता है।

विद्या, विनय, विवेक, तपस्या, सच्चरित्रता, दानशीलता, संयम, सत्यानुराग, वीरत्व आदि सभी बातें जो मन को उच्च भूमि प्रदान करती हैं, व्यक्ति के सर्वोच्च धन में परिगणित होती हैं। स्वभावत: जब वेदों के ऋषि देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि हमें धन दो, तो ये दो शब्द बहु आयामी अर्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद में कहा गया – जिस धन की आर्य पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन लोगों में शोभा पाता है, जो धन अपने तेज से दीप्तिवाला है, वही धन या ब्रह्मचर्य तेज हमें दो। स्वभावत: धन शब्द का अर्थ बहुआयामी सिद्ध होता है।

धन न रहने की स्थिति दरिद्रता होती है। रुपयों-पैसों की कमी तो दरिद्रता कहलायेगी ही, पर जब व्यक्ति मन से पतित हो, ईर्ष्यालु हो, कलह-प्रिय हो, षड्यंत्रकारी हो, अनुदार हो, असंयमी हो, तो वह स्थिति दरिद्रता के अन्तर्गत आएगी। तदनुसार, 'दरिद्रता से बचाओ' प्रार्थना का अर्थ होगा मानसिक पतन से बचाओ। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि के अतिरेक से मुक्ति प्रदान करो।

'गौ शब्द का अभिप्राय क्या है? **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन:** – अर्थात् वैदिक विचारों से सम्पृक्त उपनिषद 'गाय' है, गीता के रूप में श्रीकृष्ण ने उसे दुहकर हमें प्रस्तुत किया। स्वभावत: ज्ञान की सर्वोच्चता ही गौ या गाय है। इसकी रसधारा से पुष्ट हो सकने की आकांक्षा है। इसलिए कहते हैं – 'गौ दो।' बिना ज्ञान के अज्ञानान्धकार से बाहर नहीं जा सकते। परमेश्वर की ओर भी गति नहीं हो सकती। **(क्रमशः)**

विवेकानन्द रथ का छत्तीसगढ़ प्रवास

एक रथ-यात्री की डायरी से

शनिवार, दिनांक १ फरवरी २०१४

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में स्वामी विवेकानन्द रथ ११.०० बजे से १.०० बजे तक रहा। वहाँ पहले से ही दोनों ओर पंक्ति में विद्यार्थी और भक्त-वृन्द खड़े थे। रथ के पहुँचते ही सबमें आनन्द की लहर दौड़ गई। सभी स्वामीजी की भव्य मूर्ति को देखकर प्रसन्न हो गये। रथ के प्रांगण में प्रवेश करते ही मुख्य द्वार पर सैकड़ों लड़कों ने फूल बरसा कर रथ का स्वागत किया। विद्यापीठ के यशस्वी सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, विवेकानन्द ग्रामीण उन्नयन समिति, बरबंदा के सचिव श्री वीरेन्द्र वर्मा, छत्तीसगढ़-मध्यप्रदेश रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के संयोजक श्रीहिमाचल मढ़रिया, विद्यापीठ के कार्यालय-प्रमुख श्री मनोज यादव आदि बहुत से लोगों ने स्वामीजी की मूर्ति पर माला पहनाकर स्वागत किया। उसके बाद विद्यापीठ के प्रेक्षागृह में सभा आरम्भ हुई। अतिथियों द्वारा दीप प्रज्ज्वलन के बाद डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने स्वागत-भाषण दिया। उसके बाद स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने श्रोताओं को रथ-भ्रमण के उद्देश्य के बारे में बताया। तत्पश्चात् राहुल बघेल ने विवेकानन्द-स्तुति की। तदनन्तर विद्यापीठ के छात्र खिलेश त्रिवेन्द्र, सेन्ट्रल स्कूल के छात्र सुशान्त झा, ज्ञानगंगा एकेडमी के छात्र मानवेन्द्र ठाकुर, संदीप पाटले, महेन्द्र कुर्रे, विद्यापीठ के कार्यालय-प्रमुख श्री मनोज यादव ने स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन पर प्रकाश डाला। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने स्वामीजी के आदर्शों पर व्याख्यान दिया। विद्यालय के प्राचार्य श्री एच. डी. प्रसाद जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। वहीं रथ-दल का भोजन हुआ और पुन: रथ अपने विश्व-पथ की ओर अग्रसर हो गया।

विवेकानन्द स्कूल, डंगनिया, रायपुर में रथ १.३० से २.३० बजे तक रहा। स्कूल के डायरेक्टर श्री राहुल सिंह जी ने अपने विद्यालय परिवार के साथ रथस्थ स्वामी विवेकानन्द जी की भव्य मूर्ति पर पुष्प-माल पहनाकर भव्य स्वागत किया। सभी बच्चों ने एक-एक करके स्वामीजी की मूर्ति पर फूल चढ़ाए। बच्चों ने स्वागत-गीत गाये और व्याख्यान दिए। स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने बच्चों और शिक्षकों को रथ के उद्देश्य से अवगत कराया।

सरस्वती स्कूल, रोहिणीपुरम् में रथ ३.०० बजे पहुँचा और ४.३० बजे तक रहा। बच्चे बहुत देर तक प्रतीक्षा करते रहे। वहाँ भी बच्चे ने दो पंक्तियों में खड़े होकर रथस्थ स्वामीजी की मूर्ति पर फूल बरसाकर स्वामीजी का स्वागत किया। उसके बाद बच्चों ने संस्कृत में स्वामी विवेकानन्द जी की वन्दना की तथा स्वदेश-मन्त्र का संकल्प लिया। उसके बाद स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने बच्चों को गीत गवाया और बच्चों को स्वामीजी के महान बनने के विचारों को बताया। वहाँ से रथ ५ बजे आश्रम में आकर रात्रि-विश्राम किया।

रविवार, दिनांक २ फरवरी २०१४

बरबन्दा ग्राम-भ्रमण – आज रथ का रायपुर में अन्तिम दिन है। आज ग्राम-भ्रमण की योजना है, जिससे स्वामीजी का दर्शन करके ग्रामीण भी प्रेरित और धन्य हों। इसलिये ७ बजे से बरबन्दा ग्राम के लिये रथ प्रस्थान किया। बरबन्दा रायपुर से ३० किलोमीटर दूर है। बरबन्दा ग्राम छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के क्रान्तिदूत और रामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव पूज्यपाद स्वामी आत्मानन्द जी महाराज की जन्मभूमि है। वहाँ विवेकानन्द ग्रामीण उन्नयन समिति कई वर्षों से सेवारत है। उसके सचिव श्री वीरेन्द्र वर्मा जी हैं। रथ बरबन्दा में सबसे पहले आत्मानन्द पब्लिक स्कूल में पहुँचा, जहाँ बच्चों ने रथ का स्वागत किया। उसके बाद रथ ग्राम-भ्रमण के लिय निकल पड़ा। ग्राम में रथ के पहुँचते ही गली-गली से, घर-घर से चारों ओर से मातायें थाल में नारियल, फूल धूप-दीप आदि सजाकर पूजन के लिये दौड़ पड़ीं। अनेकों जगह रास्ते में रथ को रोककर लोगों ने पूजन किया। स्वामी आत्मानन्द पब्लिक स्कूल के बच्चे और स्वर्गीय ज्योति देवी शा. पूर्व माध्यमिक शाला, बरबन्दा, के बच्चे दोनों ओर से सड़क पर खड़े होकर फूल बरसा रहे थे। आगे-आगे कीर्तन मंडली गाते हुये चल रही थी। उसके बाद विवेकानन्द आश्रम के सन्तवृन्द के साथ स्वामीजी का रथ था। चारों ओर से लोग रथ को देखने के लिये टूट पड़े। स्वामीजी का रथ पूरे गाँव का भ्रमण करता रहा। हजारों लोगों के बीच रथ की पूजा चल रही थी। लोगों की अपार भीड़ को रोकना कठिन हो गया। किसी तरह लोगों को निवेदन करके धीरे-धीरे रथ को वहाँ से निकालकर अगले ग्राम बरोदा के लिये प्रस्थान किया गया।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह रायपुर – २०१५

स्वामी विवेकानन्द जी की १५२वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में युवकों के व्यक्तित्व विकास, नागरिकों को प्रबुद्ध एवं जागरुक बनाने, दीन-दुखियों की सेवा एवं भक्तों के हृदय में भक्ति-गंगा प्रवाहित करने के लिए अनेकों कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया

पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर और विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में युवाओं ने दी स्वामी विवेकानन्द जी को श्रद्धांजलि

१२ जनवरी, २०१५, बुधवार को पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर और विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय के प्रांगण में शहर की राष्ट्रीय सेवायोजना की इकाई, विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्र और अन्य महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं ने स्वामी विवेकानन्द जी को श्रद्धांजलि अर्पित की। विश्वविद्यालय के प्रशासन भवन के सामने स्वामी विवेकानन्द जी मूर्ति पर प्रो. शिवकुमार पाण्डेय, डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, स्वामी प्रपत्त्यानन्द, श्री मुकुल कानिटकर, कुलसचिवजी और नीता वाजपेयी ने पुष्प अर्पित किए। स्वामीजी की मूर्ति की पूजा स्वामी देवभावानन्द जी ने की। उसके बाद अतिथियों के स्वागत के बाद विवेकानन्द विद्यापीठ के बच्चों ने भजन गाए। सरस्वती शिशु मन्दिर, रोहिणीपुरम की छात्रा कु. दीप्ति साहू ने 'स्वामी विवेकानन्द का जीवन-दर्शन' पर व्याख्यान दिया। पुन: विद्यापीठ के छात्रों के गीत के बाद डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, अध्यक्ष विनियामक आयोग छत्तीसगढ़, रायपुर, प्रो. शिवकुमार पाण्डेय, कुलपति पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर, श्री मुकुल कानिटकर और स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने बच्चों को सम्बोधित किया। उसके बाद बच्चों द्वारा लक्ष्यगीत और वन्दे मातरम् के गीत से सभा समाप्त हुई।

दूरदर्शन में स्वामी विवेकानन्द पर चर्चा

आज अपराह्न ३.३० से ४ बजे तक दूरदर्शन रायपुर में स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन और युवाशक्ति पर चर्चा हुई, जिसका सीधा प्रसारण हुआ। चर्चा में स्वामी विवेकानन्द और युवाशक्ति से सम्बन्धित श्रीमती सुजाता शुक्ला के कई प्रश्नों के उत्तर स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने दिए।

श्रीमाँ सारदा की जयन्ती मनाई गई

आज १२ जनवरी, २०१५ को श्रीमाँ सारदा की १६२वीं जयन्ती मनाई गई। आश्रम में प्रात:काल से पूजा-भजन प्रारम्भ हो गए। ५ बजे भव्य मंगल आरती हुई। उसके कुछ देर बाद विशेष-पूजा आरम्भ हुई। मंदिर में छात्रावास के बच्चों ने भक्तिपरक भजन प्रस्तुत किए। १०.३० बजे हवन हुआ। संन्यासी, ब्रह्मचारियों और भक्तों के एक साथ आहुति के मन्त्रोच्चारण से मन्दिर गूँज उठा। ११.३० बजे भोग हुआ। १२ बजे सभी भक्तों को खिंचड़ी प्रसाद दिया गया। शाम को मन्दिर में आरती के बाद सारदानाम संकीर्तन और भजन हुए।

विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग भवन में प्रतिदिन सन्ध्या ६ बजे विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं –

१५ जनवरी, गुरुवार को अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। विषय था – "**नारी के सर्वांगीण विकास के लिए स्वामी विवेकानन्द का सन्देश**"। प्रथम पुरस्कार विजेता सिद्धार्थ पाण्डेय ने कहा कि इस देश का पूरा भविष्य माताओं के हाथ में है। बोनी उपाध्याय ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। सपना मिश्रा ने कहा कि भारत में स्त्री मातृत्व का बोधक है। स्त्री में मातृत्व, नि:स्वार्थता विद्यमान रहती है। स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे किसी भी परिस्थिति में अपने चरित्र का निर्माण कर सकें। अभय कुमार तिवारी ने नारियों का आह्वान करते हुए कहा, हे वीर नारियो ! अपने प्रकाशपुंज को प्रकट करो और सारे विश्व को प्रकाशित करो। सन्तू राम ने कहा, भारतीय नारी त्याग, पवित्रता, सेवा और दया की प्रतिमूर्ति है। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. विप्लव दत्ता जी ने की।...